सुचित्रा

जगदीश चन्द्र चतुर्वेदी

सुचित्रा

(कहानी–संग्रह)

सुचित्रा

जगदीश चन्द्र चतुर्वेदी

उमेश प्रकाशन
१००, लूकरगंज, इलाहाबाद

SUCHITRA
(Stories)
By
Jagdish Chandra Chaturvedi

Rs. 100.00

प्रकाशक : उमेश प्रकाशन, 100 लूकरगंज, इलाहाबाद -211001
संस्करण : प्रथम 2002 © लेखक
मुद्रक : केशव प्रकाशन, इलाहाबाद
अक्षरांकन : हैकर्स कम्प्यूटर्स
मूल्य : रुपये एक सौ मात्र

चाहता हूँ मानवों के हेतु अर्पित आयु कुछ हो जाय ।
और फिर छूकर सभी को शून्य, विस्तृत व्योम में खो जाय ।।

— दिनकर

अपने स्नेहशील,

बाल्य–बन्धु

मोहन भैया

(पं० मोहनलाल चतुर्वेदी, भरतवाल, मैनपुरी)

की पुनीत स्मृति को

श्रद्धा सहित –

- जगदीश

अपनी बात

मैं प्रारम्भ में ही यह कह देना चाहता हूँ कि मैं मूलतः कहानी–लेखक नहीं हूँ। मेरे अध्ययन और लेखन के विषय, भारतीय कला, इतिहास और पुरातत्त्व आदि हैं, लेकिन मुझे अपने मन की पीड़ा व्यक्त करने का कोई–न–कोई माध्यम तो चाहिए ही था। नाटक–कहानी या उपन्यास।

मैंनपुरी आकर मैं रोज़ का अख़बार भी नहीं देख पाता। रोज़ किसी–न–किसी निरपराध बहू की 'दहेज–हत्या' या दहेज के कारण हुई 'आत्म–हत्या' की ख़बर छपती है। मैंनपुरी और आस–पास के जिले, एटा, इटावा और फर्रुखाबाद इस भीषण अमानवीय समस्या से ग्रसित हैं। कुछ मास पहले चार सगी बहनों ने आगरा में इसीलिए 'आत्म–हत्या' कर ली थी। यह दृष्टिकोण समुचित नहीं है और यह इस रोग का निदान भी नहीं है। हिन्दू, मुसलमान और शायद ईसाइयों में भी यह घृणित प्रथा प्रचलित है। इसने लोगों का जीवन दूभर कर दिया है। भारतीय समाज के महिला–संगठनों और देश की तरुणियों को इसके लिए संगठित होकर आगे आना चाहिए और इस दुष्प्रथा के विरोध में अपना तीव्र आक्रोश व्यक्त करना चाहिए। एक ओर हम संसद में महिलाओं के 30 प्रतिशत आरक्षण की बातें करते हैं और दूसरी ओर हम इस घृणित प्रथा के विरोध में एक शब्द भी नहीं कहते हैं। कैसा विरोधाभास है? हमें एक 'एक नये समाज' की रचना करनी है जो मानवीय संवेदना पर आधारित हो। महिलाओं के सम्मान; गरिमा पर आधारित हो।

सुजाता मेरी बेटी है और **पूजा** (लिली) और **उपासना** (जूली) मेरी पुत्री तुल्य अनुज–पुत्रियाँ हैं, किन्तु वस्तुतः **सुजाता** मेरे अग्रज **पं० महेशचन्द्रजी चतुर्वेदी** की पुत्री है। उन्हीं ने उसे बचपन से पाला, पढ़ाया और उसका विवाह किया। लेकिन साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में भगवती सरस्वती की अनुकम्पा से मुझे जो प्रतिभाशालिनी बेटियाँ मिली हैं, उनसे मैंने अपने को सदा गौरवान्वित अनुभव किया है। न जाने यह मेरा किस जन्म का पुण्य है? मेरे लिए सुजाता में और इनमें न कोई अन्तर रहा है और न रहेगा। इन्होंने मुझे जो श्रद्धापूर्ण सम्मान और आत्मीयता दी है, उससे मैं अभिभूत हूँ। यह मेरे लिए प्रभु

कृपा (मास्टर्स ग्रेस) है। **सुश्री अर्चना पाठक**, मैनपुरी; **श्रीमती दीप्ति भार्गव**, भोपाल; **डॉ० सोनाली चतुर्वेदी**, इलाहाबाद; **डॉ० सन्ध्या पाण्डेय**, ग्वालियर; **डॉ० उर्मिला चतुर्वेदी**, वाराणसी; **डॉ० कुशल नागर**, मेरठ; **श्रीमती अरुणा चतुर्वेदी**, गोहद, मध्यप्रदेश; **श्रीमती सुषमा रानी**, नई दिल्ली; **डॉ० मंजुला चतुर्वेदी**, वाराणसी और **कुमारी अखिलेश मिश्र** की मैं कल्याण कामना करता हूँ और परम प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वह इनकी सफलता के पथ प्रशस्त करें।

इस संग्रह की **उमा, दिव्या** और **सौम्या** का मेरे लिए एक जीवन्त व्यक्तित्व है। मैं इनके साथ रोया हूँ, हँसा हूँ और इनके सुख–दुःख में सहभागी रहा हूँ।

यह सच है कि यह अनुभूतिजन्य कथाएँ उन अर्थों में ऐतिहासिक नहीं हैं, जिन अर्थों में **बाबू वृन्दावन लाल वर्मा** के उपन्यास हैं। वातावरण की दृष्टि से कुछ व्यक्तियों और उनकी रचनाओं का उल्लेख भी किया गया है। मैं उनका आभारी हूँ।

43, भरतवाल, मैनपुरी

जगदीश चन्द्र चतुर्वेदी

अनुक्रम



कोई बिजुलियों से कह दो, मेरा आशियाँ तो फूँका।
मेरे हौसले को फूँकें, मेरे बज़्म को जलाएँ।

x x x

मेरी ज़िन्दगी यही है, कि सभी को फैज़ पहुँचे।
मैं चिरागे रहगुज़र हूँ, मुझे शौक से जलाओ।

x x x

जहाँ रहेगा, वहाँ रोशनी लुटाएगा,
किसी चिराग़ का अपना मकां नहीं होता।

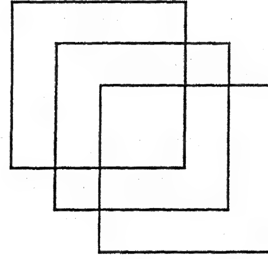
x x x

गुज़रो जो बाग़ से तो दुआ माँगते चलो,
जिसमें खिले हैं फूल, वो डाली हरी रहे।

x x x

अब न मुरझायें कभी मासूम आवाज़ों के फूल,
इन घरों पै उड़नेवाली फ़ाख़्ता ज़िन्दा रहे।

(साभार संकलित)



सुचित्रा

सुचित्रा प्रथम श्रेणी में आने वाली छात्रा तो थी ही, विश्व–विद्यालय में उसकी ख्याति, एक प्रखर, ओजस्विनी वक्ता के रूप में अधिक थी। जब वह बी० एस–सी० फाइनल में थी, तभी उसने भारतीय समाज और आज की नारी विषय पर व्याख्यान देकर सब को विस्मित कर दिया था। उसकी मान्यता थी कि वैदिक युगीन समाज में नारी की जो महत्ता थी, उससे वह निरंतर गिरती गई। उसकी स्वतंत्रता, चेतना, ज्ञान और प्रतिभा का स्तर उत्तरोत्तर गिरता चला गया। लेकिन आज की नारी सँभल चुकी है और अपने लुप्त मानदण्डों को पुनः स्थापित कर रही है। सुचित्रा के भाषण में विज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि, समाजशास्त्र का गहरा अध्ययन और साहित्य की विस्तारमयी व्यंजना का अद्भुत समावेश हुआ था। लगता था कि उसकी वाणी किसी निर्मल झरने की भाँति बहती जा रही है। ज्यों ही उसने अपना सर्वेक्षण पूरा किया, सारे श्रोता मानो सोते से जागे और कालेज का सारा सभागार तालियों से गूँज उठा। उसी वर्ष वह एक भाषण प्रतियोगिता में भाषण करने बसंत कॉलेज, वाराणसी गई थी। वहाँ से विजयिनी के रूप में जब वह अपने लिए स्वर्ण–पदक और कॉलेज के लिए शील्ड लेकर लौटी तब छात्र और छात्राओं की भारी भीड़ रेलवे स्टेशन पर जमा थी। छात्राओं ने तो उसे फूलों के हारों से लाद ही दिया। वे उसे सजी हुई जीप में लेकर कॉलेज लाईं। वहाँ उसका स्वागत हुआ।

सुचित्रा असाधारण प्रतिभाशालिनी थी। साथ ही वह अनिंद्य सौन्दर्य की स्वामिनी भी थी। रूप और प्रतिभा का ऐसा मणि–कांचन संयोग कम ही देखने में आता है। लम्बी, छरहरी देह यष्टि, दूध में सिन्दूर मिला–सा गौर वर्ण और अंतर के तेज से प्रदीप्त मुख–मण्डल। गुणों की सुरभि तो धीरे–धीरे फैलती है

किन्तु सौन्दर्य तो आगे बढ़कर अपना परिचय दे देता है

X X X

कविता मुझे पितृदाय के रूप में मिली थी। मंच पर जाकर जब मेरे पिता छंदों और अलंकारों से सजे, व्रजभाषा के छंद पढ़ते तब एक युग सामने आ जाता। भारत के स्वाधीनता संग्राम को लेकर लिखी गई उनकी कविताएँ जनता में प्राण फूँक देती थीं। जिस आज़ादी का सपना उन्होंने देखा था, वह आकाश का एक सपना–आकाश–कुसुम, बन कर रह गई तब वे भी निराश होकर बैठ गए; देश के लाखों बुद्धिजीवी नागरिकों की भाँति घर पर चुने हुए काव्य–ग्रन्थों का अच्छा संकलन था। धीरे–धीरे मेरे कवि संस्कार जागते गए। किशोर वय में, नगर के साहित्य–समारोहों में प्रायः मैं ही महाकवि निराला की 'वीणावादिनि वर दे' का सस्वर पाठ करता था। उन दिनों रत्नाकर जी की 'उद्धव शतक' मेरी प्रिय पुस्तक थी। उसके छंदों को मैं इतनी तन्मयता से पढता कि श्रोता झूमने लगते। पिता की अलमारी में से मैंने नरेन्द्र शर्मा की 'प्रवासी के गीत' निकाल ली। उसकी कविताएँ पढ़ते–पढ़ते न जाने क्यों आँखों में आँसू आ जाते

'आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे,
आज से दो प्रेम-योगी बस वियोगी ही रहेंगे।'

यद्यपि मेरे साथ ऐसा कोई प्रसंग न घटा था लेकिन न जाने क्यों मुझे कवि की अनुभूति अपनी स्वयं की अनुभूति लगने लगी थी। मेरी भावना और संवेदनशीलता बढ़ती ही जा रही थी। कॉलेज में आया तो वृत्तियाँ और भी अन्तर्मुखी होने लगीं। मुझे अज्ञेय की कविताएँ अच्छी लगने लगीं। नदी के द्वीप– मेरी प्रिय कविता बन गई। कहाँ से आता है कवि के हृदय–सागर में भावनाओं का यह ज्वार?

'झेल ले अनुभूति की संचित कसक का जो इकट्ठा भार,
ऐसे कहाँ है अस्तित्व की इस जीर्ण चादर की इकहरी बाट के ये तार?' (अज्ञेय)

कवि श्री मुक्तिबोध की रचनाओं ने मुझे एक गहरी मानवीय संवेदना दी–

अब तक क्या किया?
जीवन कैसे जिया !!
बताओ तो किस-किस के लिए तुम दौड़ गए?
करुणा के दृश्यों से हाय मुँह मोड़ गए।
बन गए पत्थर !..............
लोकहित पिता को घर से निकाल दिया
जन गण करुणा-सी माँ को हकाल दिया।

स्वार्थों के टेरियर कुत्तों को पाल लिया।

इस विचारधारा ने मानों मेरा सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही बदल डाला। ऐसा लगा कि मुझमें आमूल परिवर्तन हो गया है।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' मैं पढ़ चुका था। अंतुगायक भवानी भैया; पं० भवानी प्रसाद तिवारी स्वयं भावनाओं के धनी थे। गीतांजलि की उनकी कविताएँ मूल का आनन्द देती थीं। जब वे स्वयं उनका पाठ करते तब समां बँध जाता। वे स्वयं एक महामानव थे।

प्रेम मेरे लिए एक अति गम्भीर स्वर्गिक वस्तु थी। लगता कि प्रेम का भव्य भवन त्यागमयी साधना की आधार–शिलाओं पर टिका है। मेरी अपनी कुछ धारणाएँ बन चुकी हैं जिन्हें छोड़ना या जिन पर से हटना मेरे लिए सम्भव नहीं है। मैं भारतीय संस्कृति का उपासक हूँ और महिलाओं को सम्मान की दृष्टि से देखता हूँ। विश्व भर में नारी को जितनी प्रतिष्ठा स्वामी विवेकानन्द ने दी, उतनी भला किसने दी? लेकिन मैं अपनी सहपाठी छात्राओं से प्रायः कम ही मिलता। आज के समाज का वातावारण इतना दूषित हो चुका है कि 'तिल को ताड़' बनते देर नहीं लगती। मुझे अपनी नहीं, उनकी उज्ज्वल छवि की चिन्ता रहती है।

जब मैं बी०ए० के अंतिम वर्ष में था, तब सुचित्रा बी०एस-सी० फाइनल में थी। उन दिनों प्रो० अखिल चक्रवर्ती हम लोगों की 'जनरल इंगलिश' की क्लास साथ ही लिया करते थे। लेकिन मेरी सुचित्रा से कभी बातचीत नहीं हुई। यों भी वह एक गम्भीर स्वभाव की छात्रा थी। कॉलेज के विद्यार्थी उसे अहंकारी अथवा आत्म–केन्द्रित समझते थे। प्रखर बुद्धि वाली तो वह थी ही। छात्राओं की माँगों और समस्याओं को लेकर वही प्राचार्य के पास जाती थी, परन्तु छात्र–छात्राओं के चुनावों में उसको कोई दिलचस्पी नहीं थी।

एक दिन मैं युनिवर्सिटी से लौटकर कॉलेज की फील्ड में से जा रहा था। तभी लगा कि किसी ने मुझे आवाज़ दी है। मुड़कर देखा तो विज्ञान संकाय की प्रयोगशाला के निकट सुचित्रा और उसकी सहेली पल्लवी खड़ी थीं। मैंने उन लोगों के निकट जाकर पूछा, "अभी मुझे आपने बुलाया?"

"कॉलेज में तुम्हारे अलावा और भी कोई प्रद्युम्न है क्या?" सुचित्रा ने हँसकर कहा। मुझे आश्चर्य हुआ। कोई पूर्व–परिचय नहीं लेकिन संकोच की सीमा रेखा भी नहीं। सुचित्रा तो बड़ी रिज़र्व किस्म की लड़की मानी जाती है। सच कहूँ तो मुझे उसका यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा; विशेष–रूप से एक अपरिचित से 'तुम' का प्रयोग। मेरे चेहरे पर एक तनाव आ गया लेकिन सुचित्रा ने उसकी ओर कोई ध्यान न दिया। बोली,"कल तुम प्रोफेसर चक्रवर्ती की कक्षा

में नहीं दिखलाई दिए।''

पल्लवी हँसकर बोली,''परसों रात टाउन–हॉल में कवि–सम्मेलन था। बाहर से कई बड़े–बड़े कवि आए थे। मेरे पापाजी भी उनको सुनने गए थे। वह कह रहे थे कि प्रद्युम्न उसमें खूब जमे।''

सुचित्रा व्यंग की एक हँसी हँसी। ''तो यह कहो न कि तुम सारी रात कविताएँ सुनते रहे; पढ़ते रहे। चाय पीते रहे और कुल्हड़ लुढ़काते रहे। फिर रात के बारह बजे के बाद दूसरा दौर। लेकिन मैंने कवियों के बारे में बहुत पढ़ा है; सुना है–सब कवि बच्चन नहीं हैं, जिनकी 'मधुशाला' पर श्रोता झूम उठें लेकिन जिन्होंने कभी शराब को हाथ भी नहीं लगाया।''

''सुचित्रा !'' पल्लवी बोल उठी, ''लगता है कि तुमने मधुशाला ध्यान से नहीं पढ़ी। उसमें तो जीवन का दार्शनिक पक्ष ही उभरा है। हाला तो मात्र एक प्रतीक है।''

पल्लवी ठीक ही कह रही थी लेकिन सुचित्रा तो अपनी रौ में ही बहती जा रही थी–''मेरी बात अच्छी तरह सुन लो, प्रद्युम्न ! मैं प्रतिभा को नष्ट होते हुए नहीं देख सकती। चाय तक तो ग़नीमत है लेकिन उससे आगे बढ़े तो तुम्हारे लिए मुझसे बुरा और कोई नहीं होगा।''

मैं आश्चर्य–चकित था। सुचित्रा के इतने आक्रोश का कारण न समझ सका। आखिर वह मुझमें इतनी रुचि क्यों ले रही है? विकृतियाँ पालने की मेरी आदत नहीं है। उसके क्रोध पर ठंडे पानी के छींटे डालते हुए मैंने कहा,''मैं यों भी कवि–सम्मेलनों में नहीं जाता। आज की कविता सुनने की नहीं, पढ़ने की चीज़ है। उसे कानों का नहीं, आँखों का माध्यम चाहिए। वह तो बाहर के कुछ मित्र कवि–सम्मेलन में आमंत्रित होकर आए थे। उनसे मिलने ही चला गया था।'' उसके बाद मैंने सफ़ाई देते हुए कहा,''रही आपकी आशंका की बात? सो मद्यपान मेरे संस्कारों में नहीं है।''

मेरे स्वर की दृढ़ता ने सुचित्रा को आश्वस्त् किया। मैं चलने के लिए मुड़ा ही था कि उसने मुझे रोका,''बुरा मत मानना, प्रद्युम्न ! यह तुम्हारा फाइनल ईयर है और तुम्हारा एक–एक मिनट कीमती है। इस कॉपी में ही प्रोफेसर चक्रवर्ती के नोट्स हैं। इसे लेते जाओ। पढ़कर मुझे लौटा देना।'' फिर अचानक कुछ विगलित स्वर में बोली,''प्रद्युम्न ! मैं यह नहीं कहती कि तुम कविता न किया करो। जिस देश में महाकवि कालिदास, तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ ने जन्म लिया हो, उसमें यह कहने का अधिकार है किसे? विज्ञान की छात्रा होते हुए भी कविता मुझे प्रिय है। तुम्हारे मन में मानवीय संवेदना का जो सुप्त–भाव पड़ा था, वह जाग उठा है। वही तुम्हारा देवत्व है। मैं जानती हूँ कि तुम मनुष्य को प्यार

करते हो। उसकी पीड़ा से दुःखी होकर रोते हो। ऐसे ही रोते रहना। अपने मन को बदलना मत। तुम्हारी प्रतिभा पर कॉलेज, विश्व–विद्यालय और हम सबको गर्व है। हम तुमसे आशाएँ लगाए बैठे हैं। इस छवि को टूटने मत देना। बस, जाओ।''

मैं कितने भ्रम में था। संसार में मनुष्य को समझना कितना कठिन है? जिस सुचित्रा को मैं एक अहंकारी लड़की समझे बैठा था; रूप या ज्ञानगर्विता, वह तो उदात्त विचारों की, अति संवेदनशीला लड़की निकली। उसके प्रति, समवयस्का होते हुए भी मेरे मन में आदर की भावना जाग उठी। वह तो सच्चे अर्थों में 'ह्यूमनिस्ट' है। मैं सब कुछ छोड़कर एकाग्र भाव से अपने अध्ययन में लग गया। फिर अपनी प्रथम श्रेणी का श्रेय सुचित्रा को न दूँ तो किसे दूँ?

समय ने मेरे और सुचित्रा के बीच रिश्तेदारों जैसी आत्मीयता जोड़ दी। हम लोगों में विचारों का और फिर पुस्तकों का विनिमय होने लगा। वह मेरे वीतरागी पिता की मानो स्नेह–दात्री पुत्री बन गई। वह उनकी अलमारी खोजने कभी–कभी घर भी आ जाती। समकालीन साहित्य, संस्कृति और कला पर उसकी अच्छी पकड़ थी। फिर भी रुचिओं में अंतर होना स्वाभाविक है। मुझे आचार्य श्री नन्दलाल बसु के शिव और बुद्ध से सम्बन्धित चित्र अति प्रिय हैं। उनमें 'शिव के विषपान' में मैं एक सार्वजनीन कल्याण–भावना देखता हूँ। उनके 'पार्थ–सारथी' ने मुझे मनोमुग्ध किया हैं। उस पर से दृष्टि हटती है तो सूना–सूना सा लगता है। सुचित्रा, जहाँगीर सबावाला के चित्रों को बेहद पसन्द करती थी। वह उनको 'एक श्रेष्ठ कलाकार की अंतरात्मा की निर्मल छवियाँ' कहती थी। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की 'रहस्यवादिता' का सूत्र पकड़कर वह कवि 'सौमित्र' तक आ जाती थी। उसके मन में उन संत कवि के लिए अगाध श्रद्धा है–

हृदय तुम्हारा इतना पावन, जैसे नव हंसों की पाँखें।
इतनी सरल तुम्हारी चितवन, सुबह खुली शतदल की आँखें।
दिल दृष्टि के सम्मोहन से मेरे स्वर थरथरा रहे हैं।
जैसे वंशी की गूँजों से हिलती हो, कदम्ब की डालें। **(सौमित्र)**

उसे लगता कि कवि के जन्म–जन्मांतर के पुण्य उदय हो गए हैं। उसके मन–प्राण में कृष्ण की बांसुरी के दिव्य स्वर गूँज उठे हैं।

'सुधियाँ वंशी बनी, नन्दक में चित्र रचे वृन्दावन के'

सुचित्रा ने रवि बाबू की कविता पढ़ी थी–

'आमि चंचल हे, आमि सुदूरेर पियासी'

(मैं चंचल हूँ। मैं सुदूर का प्यासा हूँ।) कहीं कवि सौमित्र के मन में सुदूर की यही प्यास तो नहीं बस गई है। कहीं विश्वात्मा ने उसकी हृदतंत्री के तार तो नहीं छू लिए हैं। यदि हाँ, तो उनका जीवन धन्य हो गया है।

काल के प्रवाह में दो वर्ष निकल गए। भगवत्–कृपा से मुझे एम०ए० में प्रथम श्रेणी मिली। सुचित्रा और उसकी सहेली पल्लवी दोनों विज्ञान की छात्राएँ थीं। सुचित्रा की 'वनस्पति शास्त्र' और पल्लवी की 'रसायन शास्त्र' में प्रथम श्रेणी आई। सुचित्रा कभी–कभी मेरे घर आ जाती थी। माँ उसे बहुत प्यार करती थीं और पिता के लिए वह उनकी पुत्री ही थी। स्नेह, रक्त–सम्बन्धों का मोहताज नहीं होता।

मैं संकोचवश सुचित्रा के 'स्थानीय आवास' पर कभी नहीं गया। लेंकिन बातचीत में मुझे उसके परिवार की जानकारी मिल गई थी। वह पास के जिले के एक सम्पन्न, सम्भ्रांत परिवार की कन्या है। आस–पास के इलाके में मिश्र–परिवार का बड़ा सम्मान है। काफी बड़ी तीन चौक की पुरानी हवेली है। ज़मींदारी का तो उन्मूलन हो गया लेकिन घर पर काफी काश्त है। पिता ट्रैक्टर रखकर मज़दूरों से खेती कराते हैं। माँ ममतामयी कुशल गृहिणी हैं। बड़े भाई जिले की सिविल कोर्ट में वकालत करते हैं। भाभी अपनी ननद सुचित्रा पर जान छिड़कती हैं। सुचित्रा के दो छोटे भाई–बहिन जिले के स्कूल में ही पढ़ते हैं। कुल मिलाकर उसका एक सुखी, भरा–पूरा परिवार है। घर पर फ्रिज, रंगीन टी०वी० और टेलीफोन सभी आधुनिक सुविधाएँ हैं।

दो साल पहले जिले के राजकीय इंटर कॉलेज की पढ़ाई पूरी करके सुचित्रा ने यहाँ बी० एस–सी० में दाखिला लिया है। पल्लवी से तभी परिचय हुआ था। अब वे दोनों अंतरंग सहेली हैं। दोनों प्रतिभाशालिनी छात्रायें हैं। पल्लवी के पिता राजकीय सेवा में एडीशनल कलेक्टर के पद पर हैं। सुचित्रा अपने पिता के परिचित किन्हीं अग्रवाल साहब के यहाँ छत पर दो कमरों का छोटा–सा फ्लैट लेकर रहती है। सुचित्रा के साथ घर का पुराना नौकर हीरा रहता है। कमरों की सफ़ाई, धुलाई, बाज़ार से सामान लाना और खाना पकाना–सब कुछ उसी के ज़िम्मे है। गेहूँ का बोरा, घी और दालें वह सुचित्रा के घर से ले आता है। इस प्रकार सब काम व्यवस्थित ढंग से चल रहा है। सुचित्रा जब रात को देर तक पढ़ती है तो हीरा उसकी कुर्सी के पीछे चुपचाप आकर खड़ा हो जाता है और सुचित्रा का ध्यान जाने पर कहता है,"अब सो जाओ, बिटिया, बहुत रात हो गई है।" सुचित्रा उसके हाथ से दूध का गिलास लेकर कहती है–"बस थोड़ी–सी देर और। अभी पढ़ने में मन लग रहा है, काका ! तुम जाकर सो जाओ।"

एक दिन मैं शहर की एक गली में होकर जा रहा था। तभी देखा कि आगे–आगे कुछ दूर पर सुचित्रा चली ज़ा रही है। उसने मुझे नहीं देखा। लड़कियों की पीछे मुड़कर देखने की आदत नहीं होती। वह अपने हाथ में किताब लिए शायद किसी लाइब्रेरी से घर लौट रही थी। मैंने सोचा कि वह या तो गली में अपने किसी घर में चली जायेगी या किसी अगली गली में मुड़ जायेगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। वह गली में ही एक मकान की सीढ़ियाँ चढ़कर चौखट पर लगी 'कॉल बेल' को बजाने लगी। तभी उसकी दृष्टि मुझ पर पड़ी। वह किसी बच्चे की भाँति मुदित होकर बोली, "अरे प्रद्युम्न ! तुम? पीछे–पीछे चले आ रहे हो और मुझे आवाज़ भी न दी। कहाँ जा रहे हो?" "मैं एक मित्र के पास जा रहा था। बहुत दिनों से उससे मिला नहीं।" मैंने कहा। तभी हीरा ने आकर दरवाज़े की सांकल खोल दी। "चलो, ऊपर ही चलते हैं।" उसने कहा। सच तो यह है कि सुचित्रा ने मुझे एक अजीब–सी स्थिति से उबार लिया। मैं अग्रवाल साहब के यहाँ कभी गया न था और न वे लोग मुझे पहचानते ही थे। मेरे बहुत मना करने पर भी उसने हीरा को नाश्ता लाने के लिए भेज दिया और अपने उन कपड़ों में ही चाय बनाने रसोईघर में घुस गई। मुझे ऐसा लगा कि वह कुछ शीघ्रता में है और मुझे जाता हुआ देखकर शिष्टाचार–वश अपने कमरे में ले आई है। हम लोग साथ–साथ चाय–नाश्ता लेने लगे।

सुचित्रा बोली,"तुम बाहर से कब लौटे? दो–तीन दिन पहले ही तो मैं तुम्हारे घर गई थी। चाची ने बतलाया कि तुम अपनी थीसिस की सामग्री की खोज में बाहर गए हो।"

मैंने कहा,"कल सबेरे ही तो मैं दतिया, टीकमगढ़ और ओरछा होकर वापस लौटा हूँ। लोगों के घरों में हस्त–लिखित पोथियों का अपार भण्डार है। लेकिन वे उसे किसी को दिखलाना तक नहीं चाहते। न उनके बारे में किसी को कुछ बतलाना ही चाहते हैं। बस, छाती से चिपकाए बैठे हैं। उनको भय लगता है कि कहीं कोई उनकी पारिवारिक, पैत्रिक सम्पदा ले न जाय। भले ही उसे दीमक खा जाये।"

सुचित्रा बोली,"यह शताब्दियों की अशिक्षा और सांस्कृतिक दरिद्रता के कारण है। हमारी कितनी मूल्यवान सम्पदा उपेक्षा और धार्मिक बर्बरता की भेंट चढ़ गई ! सुन्दरतम् मूर्तियाँ खण्डित कर दी गई। इतिहास की कितनी मूल्यवान साक्षी मुद्राएँ सोने या चाँदी के ही नहीं ताँबे के लोभ में गला दी गई। विदेशों की संग्रहालयों की वीथियाँ हमारी अनमोल विरासत से भरी पड़ी हुई हैं। इस देश को धन का लोभ; पैसा खा गया।"

"मध्यकाल की उन पोथियों के चित्रों को देखकर तो मन दुःख से भर

जाता है। एक दिन चित्रकला के यह अनूठे नमूने भी नष्ट हो जायेंगे।" मैंने कहा,"फिर भी मैं कोशिश कर रहा हूँ कि कुछ का उद्धार तो हो जाय। इन पोथियों के चित्रकार तो विलक्षण थे।" मैं भावावेश में कहता जा रहा था और सुचित्रा उसे बड़े ध्यान से सुन रही थी।

"इन रीतिकालीन ग्रन्थों के चित्रों में मैंने एक विलक्षण प्रवीणता देखी। चित्रकार कवित्त या सवैया के भावों को चित्रांकित करते समय प्रायः नायिका के हाथ में दर्पण दिखलाता है या जल में उसका प्रतिबिम्ब दिखलाता है। यह उसके चित्र–लाघव की कसौटी है। वह नारी की एक ही छवि को बार–बार ज्यों–का–त्यों अंकित करने में समर्थ है।" मैंने कहा।

"रिसर्च करने की तो मेरी भी बड़ी इच्छा है लेकिन बाबू और अम्मा करने नहीं देंगे। उन्हें मेरे ब्याह की जल्दी है।" सुचित्रा ने अपने मन की बात कही।

"तुम किस टॉपिक पर काम करना चाहती हो?" मैंने जिज्ञासा की। मैं यह तो जानता ही था कि उसकी 'वनस्पति शास्त्र' में प्रथम श्रेणी आई है।

वह बोली,"दिवास्वप्नों की बात मत पूछो, प्रद्युम्न ! मैं हिमालय के महावृक्ष देवदार पर काम करना चाहती हूँ। चीड़ आदि के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन भी रहेगा। मेरे दिमाग में मेरी थीसिस का ख़ाका है। सिनाप्सिस मैं कभी भी तैयार कर सकती हूँ।"

"तो तुम यह क्यों नहीं कहतीं कि तुम हिमालय में घूमना चाहती हो?" मैंने कुछ हँसकर कहा।

"घूमना नहीं, तुम्हारी तरह भटकना प्रद्युम्न ! तुम सचमुच एक मेधावी कवि हो। तुमने मेरे मन की बात पकड़ ली। एक बार स्टडी–टूर पर हिमाचल गई थी। तबसे हिमालय मेरे मन में बस गया है। कला–महर्षि निकोलस रॉरिक के चित्र देखती हूँ तो उनकी आभा में खो जाती हूँ।" सुचित्रा कहते–कहते रुक गई। फिर बोली,"अभी तो घर जाना है। सबसे मिल लूँ। तुम चले मत जाना प्रद्युम्न ! तुम्हें मेरे साथ चलना है। मैं अभी आई।" इतना कहकर वह अपने कपड़े बदलने के लिए भीतर के कमरे में चली गई।

जब वह बाहर निकलकर आई तब वह शलवार–कुरते की जगह एक कीमती बनारसी साड़ी पहने थी। कंधे पर कढ़ा हुआ कश्मीरी शॉल था। एक हाथ में सोने की दो चूड़ियाँ थीं और गले में एक हल्का–सा लॉकेट। इस वेश–भूषा में मैंने उसे पहले कभी देखा न था। मुझे लगा कि वह अपनी किसी सहेली के यहाँ किसी विशेष समारोह में जा रही है और लौटने में शायद देर हो जाय, इसलिए वह मुझे अपने साथ लिए जा रही है। फिर भी मैंने शालीनतावश उससे कुछ न पूछा। सुचित्रा ने अपने हाथ की घड़ी देखते हुए कहा,"बस अब चलते

ही हैं।'' दिसम्बर का महीना था। शाम घिर रही थी। उसने मुझे एक सादा ऊनी शॉल पकड़ाते हुए कहा—''इसे अपने कंधे पर डाल लो। लौटने में देर हो सकती है।''

हम लोग चुपचाप चलते जा रहे थे। अपनी लम्बी गली के मोड़ पर आकर वह ठिठक गई और रास्ते के एक ओर खड़ी हो गई। मुझे लगा कि वह किसी रिक्शे या थ्री व्हीलर का इंतजार कर रही है। तभी सामने से प्रशान्त दादा आते हुए दिखलाई दिए। वे मेरी बुआ के पुत्र हैं। लम्बे, दुहरी देह, उज्ज्वल गौर वर्ण और सदा मुस्कराता—सा सौम्य मुख ! कुल मिलाकर उनका एक आकर्षक व्यक्तित्व है। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी तीनों भाषाओं पर समान अधिकार है। अभी पिछले वर्ष ही डॉक्टरेट करने के बाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में व्याख्याता नियुक्त हुए हैं। उनको देखते मेरा तो हाल—बेहाल हो गया। पैरों तले की ज़मीन खिसकने लगी। मेरे मन पर एक मध्यमवर्गीय मानसिकता हावी हो गई। भला वे क्या सोचेंगे मुझे एक सुन्दर तरुणी के साथ अकेला खड़ा देखकर?

प्रशान्त दादा हम लोगों के पास आकर हँसे,''अरे, आज तो यहाँ दो—दो हस्तियाँ मेरा स्वागत करने खड़ी हैं। जनपद का यशस्वी कवि और नारी—जाग्रति की अग्रणी। मैं धन्य हुआ।'' प्रशान्त दादा की हँसी से ऐसा लगा कि मेरे मन पर घिरा चिंता का बादल हट गया है और हल्की सुनहली धूप छिटकने लगी है। उनकी यह बात सुनकर सुचित्रा और मैं दोनों हँस पड़े।

प्रशान्त दादा सुचित्रा की ओर देखकर बोले,''मैं तो तुम्हारी ओर ही आ रहा था सुचित्रा।'' मेरी ओर इशारा करके कहा,''यह तुम्हें कहाँ मिल गया?''

सुचित्रा हँसी।''मैं ही इन्हें खींचकर लाई हूँ। सरल विश्वासी कवि को तो यह भी नहीं पता कि मैं उसको ले कहाँ जा रही हूँ?'' फिर दादा मेरी ओर मुखातिब हुए—

''प्रद्युम्न ! तुम्हारी बुआ क्या गई, तुमने तो हमलोगों से मिलना—जुलना तक छोड़ दिया।'' मेरी बुआजी का हृदयरोग के कारण पिछले दिनों निधन हो गया था। मैं चुप रहा। कहता भी तो क्या? यह सच था कि मैं इधर काफी दिनों से उनके बंगले पर न गया था। जाने की सोचता तो स्नेहमयी बुआ की स्मृतियाँ मन को घेर लेतीं।

''चलो हम लोग घर चलें। दादाजी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।'' हम दोनों उनके साथ चल दिए। बंगला अधिक दूर नहीं था। जब हम लोग बंगले के निकट आ गए तब प्रशान्त दादा सहसा रुक गए। और मेरी ओर देखकर बोले,''आज मैं तुम्हारे सम्बन्धों को और भी प्रगाढ़ रूप दे रहा हूँ। सुचित्रा कई वर्षो से मेरी वाग्दत्ता वधू है। वह शीघ्र ही तुम्हारी भाभी होने जा रही है।

गोपनीयता के इस रहस्य को मैंने कभी खोला नहीं।" यह सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ, मैं इस सम्बन्ध में बिल्कुल अंजान था। मेरी आँखों में आनन्दाश्रु आ गए। कॉलेज में सहपाठियों का सम्बन्ध ट्रेन के सह–यात्रियों जैसा होता है। गन्तव्य स्टेशन आया और नमस्कार करके उतर गए। फिर कौन किसे याद करता है? कुछ तो जीवन में फिर कभी मिलते भी नहीं। मेरे मन में एक सुखद अनुभूति जाग्रत हुई। लगा कि समय की तीव्र धारा में बहती हुई एक महामूल्यवान वस्तु मेरे निकट आ गई है और रुक गई है। आशीषों से भरा सुचित्रा का स्नेहिल हाथ मेरे सिर पर आ गया है। जन्म–जन्मांतर के हिन्दू संस्कारों की चादर मुझे अपनी ऊष्मा प्रदान कर रही थी। भाभी यानी माँ की ही प्रतिबिम्ब ! तो सुचित्रा सब कुछ जानती हैं। मेरा और प्रशान्त दादा का रिश्ता भी। तभी हुआ न इतना अधिकार, इतना विश्वास। मैं सुचित्रा के चरण–स्पर्श करने के लिए झुका ही था कि उसने संकोच से अपने पैर हटा लिए। और रुँधे हुए कंठ से बोली,"प्रद्युम्न, मेरे भाई ! मुझे क्षमा करो। मैं विवश थी।" सुचित्रा के उस दिन के आक्रोश का कारण अब समझ में आ गया। एकदम शुभेच्छु की भाँति वह मुझे हर ख़तरे से बचा रही थी। मुझे आगाह कर रही थी।

गेट खोलकर प्रशान्त दादा ने बंगले में प्रवेश किया। सुचित्रा और मैं उनके पीछे थे। फूफाजी पोर्च में पैरों पर ऊनी चादर डाले, सोफा पर बैठे थे। हम लोगों को देखकर वे उठकर खड़े हो गए। मैंने उनके चरण–स्पर्श किए लेकिन सुचित्रा साड़ी के पल्लू से सिर ढँककर उनके पैर छूने को झुकी ही थी कि उन्होंने उसे दोनों हाथों से उठा लिया। "मेरी बेटी, इस घर की लक्ष्मी ! मैं कितने दिनों से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। यह सूना बंगला न जाने कितने दिनों से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।" फूफाजी भाव–विह्वल हो रहे थे। उन्होंने सुचित्रा का सिर अपने कंधे से सटा लिया। सुचित्रा को लगा कि उसके सिर की साड़ी पर दो बूँद आँसू टपक पड़े हैं। उसे एक ऋषि की आँखों से गिरे वे आँसू अनमोल मोती से लगे। सुचित्रा को कंधे से लगाए फूफाजी कुछ देर तक मूर्तिवत् खड़े रहे।

फिर वे एक हाथ से सुचित्रा को थामे हुए और दूसरे हाथ से प्रशान्त की बाँह पकड़े उस कमरे की ओर चले, जिसमें मेरी बुआजी का तैल–चित्र टँगा था। उसके ऊपर रेशम के कोए की शुभ्र माला पड़ी थी और उसके नीचे की चौकी पर श्रीमद्भगवत्गीता रक्खी थी। उसके निकट ही एक विद्युत दीप अनवरत रूप से जल रहा था। सुचित्रा आगे बढ़ी और उसने दीवाल पर, उस चित्र के नीचे अपना सिर टिका दिया।

कुछ देर बाद सुचित्रा ने जब अपना सिर ऊपर उठाया, तब उसकी

आँखों से आँसू झर रहे थे और वह सिसक रही थी। फूफाजी उसकी ओर आश्चर्य से देखते रहे। फिर उन्होंने पूछा,"क्या तुम इनको जानती हो? कभी इनसे मिली हो?"

सुचित्रा ने स्वीकृति में अपना सिर हिला दिया। वह कुछ बोली नहीं लेकिन उसने अपना हाथ फूफाजी की ओर बढ़ा दिया। उन्होंने देखा कि सुचित्रा की उँगली में एक पुखराज जड़ी अँगूठी है। उसे देखकर वे चौंक पड़े। इस अँगूठी को तो वे बरसों से पहचानते हैं। यह तो वही अँगूठी है जो उन्होंने अपनी नव–परिणीता वधू को प्रथम भेंट में दी थी।

फूफाजी ने प्रशान्त दादा की ओर देखा लेकिन वे चुप रहे।

सुचित्रा बोली,"शायद आपको याद हो। आपके विश्व–विद्यालय के संस्कृत विभाग में डॉ० द्वारकानाथ शास्त्री पढ़ाते थे। चार–पाँच साल पहले।"

फूफाजी बोले,"उन्हें तो मैं जानता ही नहीं हूँ, मेरे मित्र भी हैं। उनके साथ मेरा अब भी पत्र–व्यवहार चलता है। मैं अपनी नई प्रकाशित पुस्तक की प्रति भी उनको भेजता हूँ। हाँ, तो–"

"वे मेरे मौसाजी हैं। मेरी मौसी के साथ माताजी के बहुत अच्छे सम्बन्ध थे। वे अक्सर इस बँगले में आती थीं और माताजी भी उनसे मिलने जाया करतीं थीं।" सुचित्रा कहती जा रही थी,"तब मैंने बी–एस०सी० में दाखिला लिया था।"

"एक दिन मेरी मौसी मुझे साथ लेकर यहाँ आई और माताजी से जन्मपत्री ले गई। उन्होंने उसे मेरे घर भेज दिया। जब काशी में मेरी जन्मपत्री के साथ उसके ग्रह मिल गए, तब मेरी मौसी एक दिन फिर मुझे लेकर माताजी के पास आई। उस दिन माताजी ने मुझे भोजन कराया और यह रेशमी साड़ी दी, जिसे मैं पहने हुए हूँ। चलते समय उन्होंने यह अँगूठी अपनी उँगली से उतार मेरी उँगली में पहना दी। फिर मौसीजी से बोलीं,"हमारे घर की सगाई पत्थर की लकीर है। **'प्राण जाय पर वचन न जाहीं'** मैं कितनी भाग्यहीना हूँ, जो उनकी छाया से भी वंचित रह गई।" कहते–कहते सुचित्रा फिर सिसकने लगी।

फूफाजी बोले,"बीमारी में ही एक बार उन्होंने कहा था कि मैंने प्रशान्त के लिए एक लड़की पसन्द कर ली है और सगाई की रस्म भी कर दी है। मैं अमेरिका से लौटा, तब तो बीमार ही थीं। फिर तो वे चली ही गई।" फिर वे सुचित्रा की ओर देखकर बोले,"तो तुम हो उनकी 'चॉयस'। वे रत्न–पारखी थीं। उनकी दृष्टि दोयम चीज़ पर कभी नहीं पड़ी।"

सुचित्रा संकोच से गड़ी जा रही थी। फूफाजी फिर मेरी ओर देखकर बोले,"प्रद्युम्न ! 'वी हैव गॉट ए ज्वुएल'[1] मुझे याद है कि प्रशान्त की माँ के निधन

1- मैंने एक रत्न पा लिया है।

के पश्चात् मुझे इनके पिताजी का सम्वेदना–पत्र मिला था। लेकिन बाद में भी उन्होंने इस सगाई के बारे में कुछ नहीं लिखा।''

सुचित्रा बोली,''बाबू तो इस सम्बन्ध में आपको पत्र लिखना चाहते थे लेकिन अम्मा ने मना कर दिया। वे बोलीं,''उधर की ओर से मैं निश्चिंत हूँ। ब्याह तो सुचित्रा की एम०एस–सी० के बाद ही करना है।''

फूफाजी बोले,''अब तो सब कुछ हो गया। प्रशान्त युनिवर्सिटी के हिन्दी विभाग में प्रवक्ता हो गए, तुम्हें एम०एस–सी० में फर्स्ट डिवीज़न मिल गई। अब आगे का क्या कार्यक्रम है?''

''मैं इसी सप्ताह घर चली जाऊँगी। कल पुस्तकालय की किताबें लौटा आऊँगी। आपकी आज्ञा लेने आई हूँ।'' सुचित्रा ने विनम्र भाव से कहा। फूफाजी मेरी ओर देखकर बोले,''तुम इसे और हीरा को अपनी मोटर से ही लेकर जाओगे। मैं ड्राइवर के लिए किसी मित्र को फोन कर दूँगा। केवल ज़रूरी सामान ही ले जाना। बाक़ी सब बाद में पहुँच जायेगा। तुम अभी इनसे फोन नम्बर लेकर कह दो कि तुम सोमवार को सबेरे वहाँ पहुँच रहे हो।'' फिर उन्होंने अपने पर्स में से सौ–सौ रुपए के कुछ नोट निकाले और मुझे देते हुए बोले,''तुम हीरा के लिए दो धोतियाँ, जूते और अच्छे कपड़े के दो कुरते या कमीज़ें, जो भी वह चाहे, सिलवा देना। दर्जी से कह देना कि यह कपड़े हमें शनिवार को दोपहर तक अवश्य मिल जाँय।''

सुचित्रा कुछ कहना चाहती थी लेकिन फूफाजी ने हाथ के इशारे से उसे रोक दिया। फिर वे मुझसे बोले,''मैं इसके पिताजी को एक पत्र दूँगा। इसे मिश्रजी को दे देना और यदि वे उसका कोई उत्तर दें, तो लेते आना। ड्राइवर को यहाँ दस बजे तक लौट आना है। यदि तुम वहाँ से कुछ जल्दी चल दोगे तो समय पर पहुँच जायेगा।''

सुचित्रा मानो आकाश से गिरी,''बाबू को पहले आप पत्र लिखेंगे। वर पक्ष की ओर से वधू–पक्ष को पहला पत्र ! पिताजी ! बाबू बहुत लज्जित होंगे।''

''नहीं, नहीं, इसमें लज्जा की क्या बात है? अपनी लड़की देने से कोई छोटा तो नहीं हो जाता। जब दो व्यक्तियों को मिलना ही है, तब आगे बढ़कर कौन मिलता है? यह सामंतवादी विचार छोड़ो, सुचित्रा। यह मत भूलो कि वे मुझे तुम्हें, अपनी आत्मा को सौंपने जा रहे हैं।'' फूफाजी ने कहा।

मैं आश्चर्य से फूफाजी की ओर देखता ही रह गया। नगर के बड़े–से–बड़े लोग जिसके चरण–स्पर्श करते हैं। वह व्यक्ति जिसे देश और विदेश के विद्वान् 'ज्ञान–मूर्ति' कहकर सम्बोधित करते हैं। वह एक सरल, निस्पृह मनुष्य ही नहीं है, अपितु अपने उदात्त, प्रगतिमूलक विचारों के कारण, हमारे बीच में; नई

पीढ़ी के बीच में आकर खड़ा हो गया है।

मुझे फूफाजी ने सुचित्रा के घर फोन करने को कहा था। पहले सुचित्रा ने और फिर मैंने उन लोगों से बातचीत की। इसके बाद सुचित्रा ने अग्रवाल साहब के यहाँ भी फोन कर दिया कि आप लोग चिंता न करें। हमें आने में कुछ विलम्ब होगा।

मेरे फूफाजी विश्व–विद्यालय में दर्शन–शास्त्र के विभाग के अध्यक्ष और कला–संकाय के डीन थे। उनका प्रिय विषय महर्षि पतंजलि का योग–दर्शन था। उन पर उनकी भक्तिमयी श्रद्धा भी थी। मैंने कई बार उनके मुँह से यह श्लोक सुना है–

योगेन चित्तस्य पदेन वाचा, मलं शरीरस्य तु वैद्य केना।
योऽवाकरोन्तं प्रवरे मुनायां पतंजलिं प्रांजलिरा नतोऽस्मि।।[1]

फूफाजी की मान्यता है कि पतंजलि द्वितीय शताब्दी–ईसवी पूर्व में शुंग सम्राट पुष्यमित्र के समकालीन ही नहीं थे अपितु पुष्यमित्र ने उनकी अध्यक्षता में यज्ञों का आयोजन भी किया था। 'पाणिनि और पतंजलि', 'पतंजलि की जन्मभूमि', 'महाभाष्य का परवर्ती व्याकरणों पर प्रभाव' फूफाजी के व्याख्यान विद्वानों में चर्चा के विषय रहे हैं। फूफाजी ने प्राचीन भारतीय संस्कृति और दर्शन पर कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं और कई विश्व–विद्यालयों के आमंत्रण पर वे अमेरिका और योरोप के देशों का भ्रमण कर चुके हैं। विदेशों में उनके कई मित्र हैं, जिनके साथ उनका पत्र–व्यवहार चलता है।

विश्व–विद्यालय की सेवा से निवृत्त होने के पश्चात् भी वे अत्यंत कार्यशील हैं। यों उन्होंने एक वीतरागी ऋषि जैसा जीवन अपना लिया है। हालाँकि बँगले पर रोज़ माली आता है लेकिन अखबार देखने के बाद और टेलीविजन पर ख़बरें सुनने के बाद, जब तक वे स्वयं फूलों की क्यारियों की गुड़ाई नहीं कर लेते, तब तक उनके मन को संतोष नहीं मिलता। इधर जब से वे विश्व–विद्यालय से सेवा–मुक्त हुए हैं और जब से बुआजी का निधन हुआ है, उनका अधिकांश समय अपने निजी ग्रन्थालय में ही बीतता है। इस अलभ्य संकलन को देखते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपनी बहुत–सी आवश्यकताओं को देखा–अनदेखा करके उस पर अपनी आय का बहुत बड़ा अंश व्यय किया है। सारे ग्रन्थों का वर्गीकरण करके, उन्हें बड़े करीने से लोहे की शीशेदार अलमारियों में रक्खा गया है। उनका यह अद्भुत ग्रन्थागार भारतीय मनीषियों और पाश्चात्य

1- योग (सूत्रों) के द्वारा चित्त का, मह.भाष्य (व्याकरण) के द्वारा वाणी का और वैद्यक के द्वारा जिन्होंने शरीर का विकार नष्ट किया है, उन मुनियों में प्रवर पतंजलि को मैं अंजलि बाँधकर नमित हूँ।(-'महाराज भोजवृत' प्रमाण वार्तिक)

चिंतकों के ग्रन्थ–रत्नों से ठसाठस भरा है। दीवालों पर उनके आराध्य श्री रामकृष्णदेव, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डॉ० आनन्द कुमार स्वामी, गांधीजी, मालवीयजी और महायोगी अरविन्द के अलावा पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर, रूथ, कीथ, मैकडोनल, एडविन आर्नोल्ड और रोमांरोलां आदि के चित्र लगे हैं। अपने शोध–छात्रों पर उनका अगाध विश्वास है। वे उनको अपना मानस–पुत्र और पुत्रियाँ मानते हैं। उनकी वसीयत में उनका अलभ्य ग्रन्थों का यह दुर्लभ संकलन विश्व–विद्यालय के दर्शन–विभाग को दिया गया है। उनके पुत्र डॉ० प्रशान्त की रुचि संस्कृत और हिन्दी साहित्य में है। उनका अपना एक छोटा–सा निजी संग्रह है।

रिटायर होने के बाद फूफाजी अपने शोध छात्र–छात्राओं का निर्देशन अपने बँगले पर ही करते हैं। सबेरे कोई विशेष आयोजन हुआ, तभी वे बाहर जाते हैं। शाम को कोई–न–कोई मित्र आ जाता है। कभी–कभी विश्व–विद्यालय के कुलपति भी किसी महत्त्वपूर्ण मसले पर उनकी सलाह लेने आ जाते हैं। वे मूलरूप से गाँधीजी पर श्रद्धा रखते हैं और सिद्धांतरूप में खद्दर पहनते हैं। आज भी राजनीति में उन्हें विशेष रुचि नहीं है।

x x x

उस दिन फूफाजी ने हम लोगों को बिना खाना खाए आने न दिया। मुझे लगा कि सब कुछ पूर्व–निश्चित था। उनका रसोइया आज विशेष–रूप से देर तक रुका था। बाज़ार से बंगाली मिठाइयाँ मँगा ली गई थीं जो सुचित्रा को अच्छी लगती थीं। डाइनिंग टेबिल पर सुचित्रा उनके पास की कुर्सी पर बैठी थी। वे उसे आग्रह–पूर्वक खिला रहे थे। मैं और प्रशान्त दादा उनके इस स्नेह को मुग्ध होकर देख रहे थे। भोजन के पश्चात् फूफाजी ने प्रशान्त दादा से हम लोगों को गाड़ी से छोड़ आने को कहा। उन्होंने सुचित्रा से कहा कि वह शनिवार की शाम को हीरा को साथ लेकर यहाँ चली आवे। जैसा उन्होंने कहा था, शनिवार को सुचित्रा हीरा को साथ लेकर रिक्शे से उनके बँगले पर पहुँच गई। हीरा को उसके कपड़े दे दिए गए। घर के बच्चों के लिए मिठाई का डिब्बा रख दिया गया। उन्होंने सुचित्रा को एक कीमती, ऊनी ओवरकोट दिया और एक लेडीज़ रिस्ट वाच। सुचित्रा ने चलते समय उनके चरण–स्पर्श किए और उन्होंने स्नेह से उसका सिर थपथपाया। दोनों की ही आँखें भरी थीं।

रविवार को सबेरे जब मैं फूफाजी का पत्र लेकर सुचित्रा के आवास पर पहुँचा तब हीरा मोटर में सामान लाद रहा था। सुचित्रा अग्रवाल साहब के घर की महिलाओं से विदा ले रही थी। उनकी सुचित्रा की समवयस्का बहू तो उसकी सहेली ही बन गई थी। सुचित्रा उसे 'भाभी' कहती थी। उसका चार

साल का लड़का तो सुचित्रा को छोड़ ही न रहा था। "बुआ, जल्दी आना।" अग्रवाल साहब की पत्नी सुचित्रा को और सुचित्रा उनके नाती को ज़िद करके रुपए दे रही थी। लगता था कि घर से कोई किराएदार नहीं, बल्कि रिश्तेदार जा रहा है। विरल दृश्य था !

सुचित्रा की कुछ अंतरंग सहेलियाँ भी उसे विदा देने आई थीं। उनमें से मैं केवल पल्लवी को जानता था क्योंकि वह अक्सर सुचित्रा के साथ रहती थी। पल्लवी एक सुन्दर लड़की है, सौम्य और शालीन। पिता के अधिकारी होने का उसे तनिक भी घमंड नहीं है। सुचित्रा ने उसकी ओर इशारा करके धीरे से मुझसे कहा,"योर फ्यूचर लाइफ़–पार्टनर[1]। देवर की असली अभिभाविका तो उसकी भाभी ही होती है और मैं उसे पसन्द कर चुकी हूँ।" मैं चुप रहा। बात को तूल देने का अवसर भी न था। लेकिन देखा कि पल्लवी हम दोनों की ओर देखकर मुस्करा रही है। सुचित्रा के चलते समय पल्लवी ने उसके गले में अपनी बाहें डाल दी। सुचित्रा ने अपनी हथेली से उसके आँसू पोंछे। फिर उसके गालों को थपथपाती हुई बोली,"पगली ! कहीं ऐसे रोते हैं। मैं तो फिर यहीं आ रही हूँ। इस जन्म में तो मैं तुझे छोड़ने वाली हूँ नहीं। याद है, कॉलेज की लड़कियाँ हम दोनों को हमेशा साथ देखकर क्या कहती थी, 'दि अन सैपरेबिल पेयर'[2]।

हीरा मोटर में आगे बैठा था। पीछे की सीट पर मैं और सुचित्रा थे। रास्ते में उन्होंने मुझसे पूछा,"प्रद्युम्न भैया ! पल्लवी तुम्हें कैसी लगती है?"

मैंने कहा,"सुन्दर है, सौम्य है और प्रतिभाशाली है। जिस घर में जायेगी उसे रोशनी से भर देगी।"

"तुम्हारा ख्याल ठीक है।" वे बोलीं,"मेरा उसके साथ चार साल का सम्बन्ध है। वह घरेलू किस्म की एक अच्छी लड़की है। 'माडर्न' तो बिल्कुल ही नहीं है। वह शुरू से ही जानती है कि तुम मेरे देवर हो और इसीलिए मैं तुममें इतनी रुचि ले रही हूँ। उसकी मुझसे और मेरी उससे कोई बात छिपी नहीं है। उसके मन का झुकाव तुम्हारी ओर है?"

विदा के समय की सुचित्रा की बात मैंने केवल एक मज़ाक़ समझी थी लेकिन इस बार उनकी बात ने मुझे पशोपेश में डाल दिया। मैंने उनकी बात का ज़ोरदार प्रतिरोध किया। "मेरी ओर? नहीं, नहीं सुचित्रा भाभी, यह तो किसी प्रकार से सम्भव ही नहीं है। वह बड़े घर की बेटी है और यह तो आप जानती हैं कि मैं मध्यम वर्ग का हूँ। पिताजी ने स्वाधीनता संग्राम की पेन्शन तक के लिए इनकार कर दिया। बस, उनकी नौकरी की पेन्शन के इने–गिने पैसों से ही घर

1- तुम्हारी भविष्य की जीवन-संगिनी।
2- कभी न विछुड़ने वाली जोड़ी।

चलता है। मेरी हालत भी आप जानती हैं। कवि–सम्मेलनों में मैं जाता नहीं। आज भोपाल तो कल इन्दौर, कभी दिल्ली। मैं रिसर्च के काम में पूरी तरह डूब गया हूँ। यह तो कहो, भारत–सरकार की जूनियर रिसर्च फैलोशिप मिल गई है, वरना यह प्रौजेक्ट; यह हाथी क्या मेरे बस का है? फिर अभी मेरे जीवन में स्थायित्व कहाँ आया है? उसे मुझसे बहुत निराशा मिलेगी। आप ही उसका मन दूसरी ओर मोड़ सकती हैं। मेरी बात तो उसे सोचना भी नहीं चाहिए। नहीं, नहीं भाभी, यह तो सम्भव ही नहीं है।"

सुचित्रा भाभी बोलीं,"लेकिन मैं क्या करूँ? वहाँ तो यह दशा है–**'वरहुँ शम्भु न तु रहहुँ कुआँरी'।** उसके पिताजी उसकी सगाई दूसरी जगह कर रहे थे। लड़का बड़े घर का था और मंत्रियों तक पहुँच भी थी। कोई अच्छी नौकरी पा जाता लेकिन पल्लवी ने अपनी माँ से कहकर मना करा दिया,"मेरे विवाह में दहेज नहीं चलेगा? कहाँ से लावेंगे मेरे बाबूजी दो लाख नकद और फिर विवाह का खर्च अलग से।" प्रद्युम्न भैया ! आज के युग में ऐसी लड़की बार–बार नहीं मिलती; सुन्दर, शालीन और बुद्धिमती। मुझे यह रिश्ता स्वीकार है। वे लोग भी तैयार हैं। तुम्हारे जीवन में स्थायित्व आज नहीं तो कल आ जायेगा। एक दिन उसके पिताजी तुम्हारे घर भी गए थे लेकिन उन लोगों ने बात पिताजी पर छोड़ दी है। मैं चाहती हूँ कि विवाह कभी हो लेकिन सगाई अभी हो जाय। थीसिस पूरी होने तक विवाह के पक्ष में मैं भी नहीं हूँ। मेरी सगाई हुई तब तुम्हारे दादा का क्या स्थायित्व था? वे तो तब एम०ए० प्रथम वर्ष के विद्यार्थी थे। तुम तो भी भारत–सरकार की योजना में 'रिसर्च फैलो' हो।"

"तो फिर जैसा फूफाजी समझें, करें। मैं तो अपनी शोध के अलावा कुछ सोच ही नहीं पाता।" कहकर मैंने अपनी जान छुड़ा ली।

दो–ढाई घंटे में हम लोग सुचित्रा भाभी के घर पहुँच गए। एक दिन के परिचय में ही पूर्व–परिचितों जैसी आत्मीयता मिली। दूसरे दिन फूफाजी के आदेशानुसार मैं सबेरे चाय के साथ काफी नाश्ता लेकर चल दिया। और ठीक दस बजे ड्राइवर विश्व–विद्यालय के बँगले पर पहुँच गया। सुचित्रा भाभी के पिताजी ने फूफाजी को जो पत्र दिया था, वह चिठ्ठी मैंने उनको दे दी।

शुभ मुहूर्त देखकर एक दिन सुचित्रा भाभी के पिताजी और बड़े भाई आए और पक्कायत दे गए। चाँदी के गिलास में शक्कर भरी थी। उन्होंने थाल में चाँदी के जो पुराने रुपए रक्खे थे, उनमें से फूफाजी ने केवल एक रुपया उठा लिया। शेष के लिए उन्होंने हाथ जोड़ दिए–"मैंने शकुन का रुपया ले लिया।" कई सालों के बाद गर्मियों की छुट्टियों में, फूफाजी का बँगला मांगलिक गीतों से गूँज उठा। ढोलक पर थाप पड़ने लगीं। विवाह के सारे संस्कार विधिवत् पूरे

हुए। केवल बुआजी का न होना सबको खल रहा था। लेकिन विधि के विधान पर भला किसका वश है?

लग्नोत्सव के दिन नगर, समाज और विश्व–विद्यालय के गणमान्य लोग आए लेकिन बरात में गिने–चुने पच्चीस लोग थे। इसकी सूचना भी उन लोगों को पहले से पहुँचा दी गई थी ताकि अधिक लोगों की भोजन की व्यवस्था न हो। विवाह में वर–वधू की राम–सीता जैसी जोड़ी से मण्डप दमक उठा। जिसने भी देखा, उसने मुक्त–कंठ से सराहा। बराती स्वागत सत्कार से संतुष्ट थे। वधू पक्ष के आग्रह से बरात दो दिन रुकी। फूफाजी तो एक दिन के पक्ष में थे। बरातियों को भेंट में चादरें दी गई।

बेटी की विदा के समय समूचा वातावरण आर्द्र हो उठा। सबकी आँखों में आँसू थे। सुचित्रा का रुदन थमता ही न था। पोष्यपुत्री शकुन्तला की विदा के समय जब संसार त्यागी ऋषि कण्व का हृदय करुणा से भर गया था, तब सामान्य गृहस्थों की तो बात ही क्या? विदा के समय फूफाजी ने बहू का निजी कपड़ों का बक्स, अटैची और बिस्तरबंद अपनी मोटर में रखवा दिया और फ्रिज़, रंगीन टेलीविजन, स्टील की आलमारी, बर्तन आदि सब सामान वहीं छोड़ दिया। उन्होंने सुचित्रा के पिताजी से कहा,"आपने जो कुछ भी दिया, वह हमने सिर–माथे स्वीकार कर लिया। लेकिन वहाँ दुहरा सामान जोड़ने की क्या अहमियत है? सब कुछ तो वहाँ है। सुचित्रा की यह अमानत यहीं रहने दीजिए। समय आने पर वह यह सब अपनी छोटी बहन सुमित्रा को भेंट में देगी। यों तो वह अभी बहुत छोटी है। मेरी एक बात याद रखिएगा– "उसे आप जो भी दें अपनी इच्छा से, उल्लास और उत्साह के साथ दीजिएगा। किसी की माँग या दबाव पर नहीं।"

फूफाजी चलने लगे थे, तभी उनकी दृष्टि सामान में रक्खी ड्रेसिंग–टेबिल पर पड़ी। वे मेरे पिताजी से बोले,"यह सुचित्रा के काम की चीज़ है। इसका अण्डाकार शीशा अपने पास रख लीजिए और इसका फ्रेम और साथ का स्टूल बस पर रखवा दीजिए। सालों से सूने पड़े घर में भला ड्रेसिंग–टेबिल कहाँ से आएगी? और फिर उनके समय में तो इसका चलन भी न था।" उन्होंने एक सूखी सी हँसी हँसकर कहा।

कभी–कभी हँसी में भी विषाद का महासागर लहराता है। उनके मन को बुआजी की स्मृति ने छू लिया था। आज वे होतीं तो उनकी खुशी की सीमा न रहती।

फूलों से सजी कार के भीतर पिछली सीट पर सुचित्रा और उनकी दोनों सहेलियाँ पल्लवी और माधवी बैठी थीं। प्रशान्त दादा ड्राइव कर रहे थे। सुचित्रा

भाभी के भाई–बहन को आगे की सीट पर प्रशान्त दादा के पास बैठा दिया गया था। फूफाजी ने सुचित्रा भाभी के बड़े भाई से कहा, "यह दोनों बच्चे प्रशान्त के साथ जा रहे हैं। प्रीतिभोज के बाद इन्हें भेज दूँगा।" दोनों बच्चे बड़े प्रसन्न थे। कुछ देर के बाद परिवेश बदल गया। सुचित्रा अपनी सहेलियों से हँसकर कुछ कह रही थीं। तभी पल्लवी ने धीरे से चुटकी भरी–

"हँस रही है वधू, जीवन तृप्तिमय है।
प्रिय बदन अनुरक्त यह उसकी विजय है।"[1]

सुचित्रा ने नहले का जवाब दहले से दिया–"नाई, नाई बाल कितने? अभी आगे आए जाते हैं हुजूर ! बस, दो साल की बात है। फिर देखूँगी कि वधू कितना हँसती है? कवि–प्रिया ! प्रिय बदन तो अभी से अनुरक्त है।" पल्लवी का चेहरा कानों तक लाल हो गया।

प्रशान्त दादा और सुचित्रा भाभी को भेजकर फूफाजी वापस आए। भाभी के पिताजी अपनी आँखों के आँसू रोके खड़े थे। फूफाजी को अपनी ओर आते हुए देखकर उन्होंने अपने दोनों हाथ जोड़े। वे कुछ कहना ही चाहते थे कि फूफाजी ने अपने हाथों में उनके हाथ लेकर कहा–

"आप अपने मन को छोटा मत कीजिए। लड़की तो ससुराल जाती ही है लेकिन सुचित्रा तो एक पिता का घर छोड़कर दूसरे पिता के घर जा रही है। वह तो अपने घर की एक छत्र साम्राज्ञी है। दो–ढाई घंटे की दूरी कोई दूरी नहीं होती। अपना वाहन है। प्रशान्त ड्राइव करते ही हैं। जब इच्छा हो, चली आवे।" फिर उन्होंने अथर्ववेद की एक ऋचा कही–

गंगयस्या वर्च आदिव्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक पितृष्वा वास्साम्।।[2]

इतना कहकर, सब लोगों के हाथ जोड़कर वे बरातियों के साथ जाकर बैठ गए। बस चल दी।

फूफाजी का बँगला भरा था। मेरे घर के सब लोग वहीं पहुँच गए थे। प्रशान्त दादा के चाचा, चाची और उनके बच्चे विवाह से पहले गाँव से आ गए थे। कार से उतरने पर वधू का परम्परागत रीति से स्वागत हुआ। उसकी चचिया

1- अज्ञेय

2- जिस प्रकार वृक्ष से पुष्प लेकर माला बना ली जाती है और उस माला को मस्तक पर धारण किया जाता है, उसी प्रकार मैं इस कन्या के तेज और ज्ञान को ग्रहण करता हूँ। यह नववधू अपने नए माता-पिता के घर में चट्टान की भाँति स्थिर रहे।

(अथर्ववेद, 1, 14,1)

सास ने द्वार पर आकर वर और वधू की आरती उतारी। स्त्रियों ने मंगलगान गाए। बहू बड़ों के चरण–स्पर्श करके सबसे पहले बुआजी के चित्र के पास गई और चित्र के नीचे दीवाल पर माथा टेककर उसने उनके चित्र पर फूल चढ़ाए। प्रशान्त दादा भी साथ थे परन्तु वे केवल हाथ जोड़कर मौन खड़े रहे। पल्लवी और माधवी को भोजन कराकर प्रशान्त दादा उनको उनके घर छोड़ आए। वधू पक्ष की ओर से उनको साड़ियाँ दी गई थीं।

कुछ देर बाद बरात की बस आ गई। तीसरे दिन प्रीतिभोज का आयोजन था। बँगले के बाहर खुले मैदान में एक शामियाना तान दिया गया था और उसके नीचे मेज़ और कुर्सियाँ डाल दी गई थीं। मिठाइयाँ पहले से तैयार कर ली गई थीं लेकिन रसोइए लोग पूड़ियाँ और कचौड़ियाँ कड़ाही से उतार कर गर्म ही देना चाहते थे। जाति–बान्धवों के अतिरिक्त नगर के अनेक प्रतिष्ठित लोग, विश्व–विद्यालय के स्टॉफ के अंतरंग व्यक्ति, फूफाजी के शोध–छात्र और छात्राएँ, प्रशान्त दादा के घनिष्ठ मित्र आमंत्रित थे। सुचित्रा भाभी की कई सहेलियाँ और अग्रवाल साहब के घर के लोग भी निमंत्रित थे। विश्व–विद्यालय के कुलपति भी अपने परिवार के साथ आए थे। अच्छी–खासी उपस्थिति थी लेकिन सारी व्यवस्था समुचित ढंग से निबट गई। आमंत्रित लोग संतुष्ट और तृप्त होकर गये । परोसने का काम हम युवकों ने सँभाल लिया था।

दो दिन बाद छुट्टी के दिन सुचित्रा भाभी के बड़े भाई उन बच्चों को लेने आए। अपनी दीदी को छोड़ते हुए अमित और सुमित्रा; दोनों बच्चे बड़े उदास थे। फूफाजी ने उनको अपने पास बुलाकर उनके सिर पर प्यार का हाथ फेरा। फिर उन्होंने उनकी मुट्ठी में नोट रखते हुए कहा,"गर्मियों की छुट्टियों में तुम हमेशा यहाँ, अपनी दीदी के पास रहोगे। बोलो, प्रॉमिज़ !" बच्चों की आँखों में आँसू थे और ओठों पर मुस्कराहट। जैसे हल्की, हल्की बरसात हो रही हो। तभी सुनहली धूप खिल जाय। चलते समय अमित के सुचित्रा ने टीका किया और सुमित्रा को रुपए देने चाहे, लेकिन उन दोनों ने इनकार कर दिया,"तुम रहने दो दीदी ! हम दोनों को पिताजी ने कितने सारे रुपए दे दिए हैं।" उन्होंने अपने नोट दिखलाए। सुचित्रा को यह बहुत अच्छा लगा। फूफाजी ने बच्चों के साथ पूड़ी–कचौड़ी और सूखे साग की डलिया रखवा दी। उसके साथ सभी मिठाइयों की टोकरी थी।

सुचित्रा ने सोचा कि उसके कितने रिश्तेदार हैं? सब पैसे वाले हैं। कितने ही ऊँचे अफसर हैं लेकिन पिताजी जैसा उदार और विशाल हृदय किसी का भी नहीं है। वह सचमुच भाग्यशालिनी है जो सरस्वती–पुत्रों के इस मंदिर में आई है।

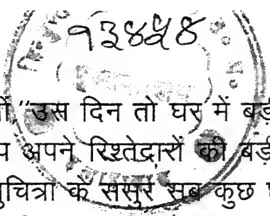
उसी सप्ताह पल्लवी के घर से वर और नव–वधू के भोजन का आमंत्रण आया। स्वयं पल्लवी आई और मेरे लिए भी ज़ोर देकर कह गई। मैंने लाख मना किया कि इस अवसर पर वहाँ जाने का मेरा क्या औचित्य है लेकिन सुचित्रा भाभी ने मेरी एक न सुनी। प्रशान्त दादा हँसते हैं,"मुझे पत्नी मिली है और निरंकुश कवि को एक स्वयं–भू अभिभावक !" भाभी और दादा ज़िद करके मुझे अपने साथ ले गए। शायद वे उस परिवार के लोगों से मेरा परिचय कराना चाहते थे। वहाँ पहुँचकर भाभी ने मेरा परिचय दिया,"मेरा देवर।" पल्लवी के पिताजी मुझे कवि के रूप में तो बहुत पहले से जानते थे। यह सूत्र बिल्कुल नया था। वे और प्रशान्त दादा बातचीत करते हुए बाहर की बैठक में चले गए। सुचित्रा भाभी बोलीं,"प्रद्युम्न भैया ! चलो दादी से मिल लें।" हम लोग पल्लवी के दादी के कमरे में गए, जो उनका पूजा–घर भी था। भाभी को देखते ही वे बोलीं,"तू आ गई, सुचित्रा !" "हाँ दादी" कहने पर दादी सुचित्रा भाभी का हाथ बार–बार चूमकर अपनी आँखों से लगाने लगीं। बोलीं,"बेटी तुम और पल्लवी मेरी दो आँखें हो। सुना है कि तेरे ससुर बड़े विद्वान हैं। देश–विदेश में उनका बड़ा नाम है।" सुचित्रा ने उत्तर दिया–

"सो तो है ही दादी लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि उनका हृदय बहुत विशाल है। वे बहू और बेटी में कोई भेद–भाव नहीं करते।" फिर उन्होंने अपने थैले में से मिठाई का डिब्बा निकाला और उसे दादी को देते हुए बोलीं,"प्रीतिभोज में सब लोग गए लेकिन आप न जा सकीं। मैं आपके लिए यह थोड़ी–सी मिठाई लेकर आई हूँ।"

"तू मेरा कितना ख्याल करती है सुचित्रा ! पल्लवी भी मेरा बहुत ध्यान रखती है। मैं सोचती हूँ कि कल वह चली जायगी..." दादी की बात को बीच ही में काटती हुई भाभी बोलीं,"नहीं, नहीं दादी ! मैं उसे अपने से दूर न जाने दूँगी। मेरी तरह वह भी इसी शहर में रहेगी। फोन पर बुलाते ही पाँच मिनट में आपके आगे आकर खड़ी हो जायेगी। उसी का हाथ माँगने तो मैं आपके पास आई हूँ।"

"पल्लवी तेरी जुड़वाँ बहन जैसी है, सुचित्रा। उसके लिए तू जो ठीक समझे; वह कर लेकिन उसके माँ–बाप की क्या राय़ है?" दादी ने पूछा। "वे तो बहुत संतुष्ट हैं, इस रिश्ते से।" भाभी ने उनको आश्वस्त किया। "दोनों समधियों में लेन–देन की बात पक्की हो गई?" दादी ने फिर पूछा। सुचित्रा भाभी ठठाकर हँसी,"न हुई न होगी।" मेरे ससुर ही उस घर के भी बड़े–बूढ़े हैं। आपने मेरे व्याह के बारे में नहीं सुना? पल्लवी तो गई थी। उसने आपको कुछ नहीं बतलाया?"

"उसने मुझे वहाँ की एक–एक बात बतलाई। तेरे घर से मिली साड़ी भी



दिखलाई'' दादी कहती जा रही थीं,''उस दिन तो घर में बड़ी नोंक—झोंक हुई। पल्लवी ने अपनी माँ से कहा,''आप अपने रिश्तेदारों की बड़ी—बड़ी बातें करती हैं। इसे कहते हैं—बड़ा आदमी ! सुचित्रा के ससुर सब कुछ छोड़कर चले आए। फ्रिज़, रंगीन टेलीविजन, गॉडरेज की आलमारी और बहुत सारे बर्तन—कपड़े। बस उसकी चुनिन्दा थोड़ी—सी साड़ियाँ, अटैची और बिस्तरबंद ले आए।'' पल्लवी की माँ ने उसे ताना मारा,''तो तुम भी चाहती हो, ऐसे ही ससुर?'' और पल्लवी ने भी उन्हें वैसा ही जवाब दिया,''मेरे ऐसे भाग्य कहाँ? यहाँ तो जो भी लड़की देखने आता है वह उसके बाप का मकान तो दूर, उसकी देह के कपड़े तक उतरवा लेना चाहता है। मेरे पिताजी की सारे शहर में एक ईमानदार अधिकारी की छवि है। वे किसी से एक कप चाय तक नहीं पीते। जब वे किसी से कुछ लेते ही नहीं तो देंगे कहाँ से?''

सुचित्रा भाभी बोलीं,''ठीक ही तो कहती है, पल्लवी। विवाह एक पुनीत आत्मिक बन्धन होता है; व्यापार नहीं। जो दहेज की कैंची से पहले ही इस मधुर सम्बन्ध को काट देते हैं, वे तो निश्चय ही अविवेकी व्यक्ति हैं। भला ऐसी दशा में दोनों परिवारों में स्नेह के आत्मिक नाते निभ ही कैसे सकते हैं? मूर्ख ! रेत में मीठा आम उगाना चाहते हैं। पहले कौर में ही मच्छिका—पात !''

दादी ने तब तक मेरी ओर न देखा था। वे सुचित्रा भाभी से बातें करने में ही व्यस्त थीं। मेरी ओर दृष्टि जाने पर उन्होंने पूछा,''यह लड़का कौन है?''

सुचित्रा भाभी बोलीं,''कहने को तो यह मेरा देवर है। मेरे ममियाँ ससुर का लड़का, लेकिन मेरे लिए भाई जैसा है। प्रथम श्रेणी में एम०ए० कर चुका है। अब पी—एच०डी० कर रहा है। सरकार से दो हज़ार रुपए वजीफ़ा मिलता है। किताबें और बाहर जाने का खर्च अलग से। कल डाक्टरेट करके किसी कॉलेज में पढ़ायेगा। मैं पल्लवी की सगाई इसी से कराना चाहती हूँ।''

''सुचित्रा तू पल्लवी की बहन है। उसकी हित की बात सोचती है और हितचिंतन रिश्ते से कहीं बड़ा होता है।'' दादी की इस बात पर मैं चौंक पड़ा। कितनी सहजता से वे कितनी बड़ी बात कह गईं? इसके बाद वे प्यार से मेरी पीठ पर, सिर पर हाथ फेरने लगीं। कौन देता है आज के युग में इतना स्नेह; इतनी आत्मीयता ! मैंने उनके चरण—स्पर्श किए तो बोलीं,''ईश्वर तुम दोनों को सुखी रक्खें। जैसा गुण, वैसा रूप ! विधाता ने कैसी जोड़ी रची है। पल्लवी के पुण्य फलेंगे।''

तभी सुचित्रा भाभी बोलीं,''यह कवि है। इसके कंठ में सरस्वती ने अमृत भर दिया है। जब यह मंच पर जाकर कविता पढ़ता है तो लोग झूम उठते हैं; अपने—आप को भूल जाते हैं।''

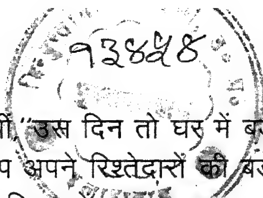
उसी सप्ताह पल्लवी के घर से वर और नव–वधू के भोजन का आमंत्रण आया। स्वयं पल्लवी आई और मेरे लिए भी ज़ोर देकर कह गई। मैंने लाख मना किया कि इस अवसर पर वहाँ जाने का मेरा क्या औचित्य है लेकिन सुचित्रा भाभी ने मेरी एक न सुनी। प्रशान्त दादा हँसते हैं,"मुझे पत्नी मिली है और निरंकुश कवि को एक स्वयं–भू अभिभावक !" भाभी और दादा ज़िद करके मुझे अपने साथ ले गए। शायद वे उस परिवार के लोगों से मेरा परिचय कराना चाहते थे। वहाँ पहुँचकर भाभी ने मेरा परिचय दिया,"मेरा देवर।" पल्लवी के पिताजी मुझे कवि के रूप में तो बहुत पहले से जानते थे। यह सूत्र बिल्कुल नया था। वे और प्रशान्त दादा बातचीत करते हुए बाहर की बैठक में चले गए। सुचित्रा भाभी बोलीं,"प्रद्युम्न भैया ! चलो दादी से मिल लें।" हम लोग पल्लवी के दादी के कमरे में गए, जो उनका पूजा–घर भी था। भाभी को देखते ही वे बोलीं,"तू आ गई, सुचित्रा !" "हाँ दादी" कहने पर दादी सुचित्रा भाभी का हाथ बार–बार चूमकर अपनी आँखों से लगाने लगीं। बोलीं,"बेटी तुम और पल्लवी मेरी दो आँखें हो। सुना है कि तेरे ससुर बड़े विद्वान हैं। देश–विदेश में उनका बड़ा नाम है।" सुचित्रा ने उत्तर दिया–

"सो तो है ही दादी लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि उनका हृदय बहुत विशाल है। वे बहू और बेटी में कोई भेद–भाव नहीं करते।" फिर उन्होंने अपने थैले में से मिठाई का डिब्बा निकाला और उसे दादी को देते हुए बोलीं,"प्रीतिभोज में सब लोग गए लेकिन आप न जा सकीं। मैं आपके लिए यह थोड़ी–सी मिठाई लेकर आई हूँ।"

"तू मेरा कितना ख्याल करती है सुचित्रा ! पल्लवी भी मेरा बहुत ध्यान रखती है। मैं सोचती हूँ कि कल वह चली जायगी..." दादी की बात को बीच ही में काटती हुई भाभी बोलीं,"नहीं, नहीं दादी ! मैं उसे अपने से दूर न जाने दूँगी। मेरी तरह वह भी इसी शहर में रहेगी। फोन पर बुलाते ही पाँच मिनट में आपके आगे आकर खड़ी हो जायेगी। उसी का हाथ माँगने तो मैं आपके पास आई हूँ।"

"पल्लवी तेरी जुड़वाँ बहन जैसी है, सुचित्रा। उसके लिए तू जो ठीक समझे; वह कर लेकिन उसके माँ–बाप की क्या राय़ है?" दादी ने पूछा। "वे तो बहुत संतुष्ट हैं, इस रिश्ते से।" भाभी ने उनको आश्वस्त किया। "दोनों समधियों में लेन–देन की बात पक्की हो गई?" दादी ने फिर पूछा। सुचित्रा भाभी ठठाकर हँसी,"न हुई न होगी।" मेरे ससुर ही उस घर के भी बड़े–बूढ़े हैं। आपने मेरे व्याह के बारे में नहीं सुना? पल्लवी तो गई थी। उसने आपको कुछ नहीं बतलाया?"

"उसने मुझे वहाँ की एक–एक बात बतलाई। तेरे घर से मिली साड़ी भी



दिखलाई'' दादी कहती जा रही थीं,''उस दिन तो घर में बड़ी नोंक–झोंक हुई। पल्लवी ने अपनी माँ से कहा,''आप अपने रिश्तेदारों की बड़ी–बड़ी बातें करती हैं। इसे कहते हैं–बड़ा आदमी ! सुचित्रा के ससुर सब कुछ छोड़कर चले आए। फ्रिज़, रंगीन टेलीविजन, गॉडरेज की आलमारी और बहुत सारे बर्तन–कपड़े। बस उसकी चुनिन्दा थोड़ी–सी साड़ियाँ, अटैची और बिस्तरबंद ले आए।'' पल्लवी की माँ ने उसे ताना मारा,''तो तुम भी चाहती हो; ऐसे ही ससुर?'' और पल्लवी ने भी उन्हें वैसा ही जवाब दिया,''मेरे ऐसे भाग्य कहाँ? यहाँ तो जो भी लड़की देखने आता है वह उसके बाप का मकान तो दूर, उसकी देह के कपड़े तक उतरवा लेना चाहता है। मेरे पिताजी की सारे शहर में एक ईमानदार अधिकारी की छवि है। वे किसी से एक कप चाय तक नहीं पीते। जब वे किसी से कुछ लेते ही नहीं तो देंगे कहाँ से?''

सुचित्रा भाभी बोलीं,''ठीक ही तो कहती है, पल्लवी। विवाह एक पुनीत आत्मिक बन्धन होता है; व्यापार नहीं। जो दहेज की कैंची से पहले ही इस मधुर सम्बन्ध को काट देते हैं, वे तो निश्चय ही अविवेकी व्यक्ति हैं। भला ऐसी दशा में दोनों परिवारों में स्नेह के आत्मिक नाते निभ ही कैसे सकते हैं? मूर्ख ! रेत में मीठा आम उगाना चाहते हैं। पहले कौर में ही मच्छिका–पात !''

दादी ने तब तक मेरी ओर न देखा था। वे सुचित्रा भाभी से बातें करने में ही व्यस्त थीं। मेरी ओर दृष्टि जाने पर उन्होंने पूछा,''यह लड़का कौन है?''

सुचित्रा भाभी बोलीं,''कहने को तो यह मेरा देवर है। मेरे ममियाँ ससुर का लड़का, लेकिन मेरे लिए भाई जैसा है। प्रथम श्रेणी में एम०ए० कर चुका है। अब पी–एच०डी० कर रहा है। सरकार से दो हज़ार रुपए वजीफ़ा मिलता है। किताबें और बाहर जाने का खर्च अलग से। कल डाक्टरेट करके किसी कॉलेज में पढ़ायेगा। मैं पल्लवी की सगाई इसी से कराना चाहती हूँ।''

''सुचित्रा तू पल्लवी की बहन है। उसकी हित की बात सोचती है और हितचिंतन रिश्ते से कहीं बड़ा होता है।'' दादी की इस बात पर मैं चौंक पड़ा। कितनी सहजता से वे कितनी बड़ी बात कह गईं? इसके बाद वे प्यार से मेरी पीठ पर, सिर पर हाथ फेरने लगीं। कौन देता है आज के युग में इतना स्नेह; इतनी आत्मीयता ! मैंने उनके चरण–स्पर्श किए तो बोलीं,''ईश्वर तुम दोनों को सुखी रक्खें। जैसा गुण, वैसा रूप ! विधाता ने कैसी जोड़ी रची है। पल्लवी के पुण्य फलेंगे।''

तभी सुचित्रा भाभी बोलीं,''यह कवि है। इसके कंठ में सरस्वती ने अमृत भर दिया है। जब यह मंच पर जाकर कविता पढ़ता है तो लोग झूम उठते हैं; अपने–आप को भूल जाते हैं।''

दादी मेरी पीठ पर स्नेह से हाथ फेर रही थीं। तभी सुचित्रा को खोजते हुए पल्लवी आई। मुझे और भाभी को दादी के पास बैठा देखकर वह हँसती हुई, उन्हीं पाँवों लौट गई। पल्लवी के घर से आने के बाद बँगले पर आकर प्रशान्त दादा ने मुझे अपने 'स्टडी–रूम' में बुलाया। वे बोले,"आज तुम्हारी सगाई के बारे में पल्लवी के पिताजी से विस्तार से चर्चा हुई। मैंने उनसे स्पष्ट कर दिया कि यह निर्णय आपको और मेरे पिताजी को करना है। बहुत कड़े सिद्धान्तों के व्यक्ति हैं आप दोनों ही। हमारे बीच में लेन–देन की बात न शोभास्पद है और न आप लोगों की गरिमा के अनुकूल है। सोने के भाव आसमान को छू रहे हैं। आप पुत्री को क्या गहने दे रहे हैं, इसका प्रदर्शन अच्छा नहीं होगा। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि पल्लवी एक साड़ी में भी जायेगी तो भी हम उसका उसी सम्मान के साथ स्वागत करेंगे।"

"वे सब बातों पर राजी हैं। उनकी सबसे बड़ी समस्या यह है कि तुम्हें तब तक विवाह नहीं करना है, जब तक कि तुम्हारी थीसिस विश्व–विद्यालय में जमा नहीं हो जाती। इसमें दो वर्ष तो लगेंगे ही।" मैंने इसे स्वीकार किया। प्रशान्त दादा ने फिर पूछा, "तुम्हें फैलोशिप के लिए भारत सरकार के किसी शोध–संस्थान से तो सम्बन्धित किया ही होगा। वह तुम्हारे कार्य की प्रगति की रिपोर्ट भी भेजता होगा। तभी तुम्हारी नई किश्त निकलती होगी?"

मैंने कहा,"आप ठीक कह रहे हैं। यही नियम हैं।"

वे फिर बोले,"तुमने मध्यप्रदेश से मतिराम और अन्य रीतिकालीन कवियों की काफ़ी चित्रमयी पोथियाँ इकट्ठी कर ली हैं। यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसके लिए तुम्हें सदैव स्मरण किया जाएगा। अब तुम इस कार्य को अधिक विस्तार न दो। इसकी कोई सीमा निश्चित करो। पल्लवी के पिता एडिशनल कलक्टर साहब की समस्या यह है कि वे अपनी पुत्री को दो साल तक यों ही घर पर बैठालना नहीं चाहते। इससे समाज में उनकी प्रतिष्ठा को ठेस लगती है। सगाई हो जाने पर बात हम लोगों पर आ जाती है। तुम अपना सर्वे का काम पूरा कर चुके हो। अब तुम्हें तो किसी एक जगह बैठकर लिखने का काम करना है। मेरा विचार यह है कि हम सगाई की रस्म अभी अदा कर दें और अगले जाड़ों तक विवाह स्थगित कर दें। तुम अपने संस्थान में बैठकर अपनी थीसिस के अध्यायों को पूरा करते जाओ। तुम्हारी कोई नौकरी तो है नहीं कि तुम्हें छुट्टी लेनी पड़े। जब इच्छा हो या अवक़ाश मिले घर के चक्कर लगा जाओ। तुम्हारे ऊपर शादी के बाद भी पल्लवी का कोई भार नहीं होगा। वह कभी अपने मायके और कभी मेरी मामी के पास ससुराल रहेगी। आख़िर तो उसे उन्हीं के पास रहना है। पिताजी हैं, मामाजी हैं और फिर मैं तो हूँ ही। तुम

और पल्लवी दोनों समझदार हो। रास्ता तो निकलेगा ही। जिसे तुम समस्या बनाए बैठे हो, वह वास्तव में कोई समस्या है ही नहीं।" वे कहते जा रहे थे।

"यदि तुम्हें अपने संस्थान में कोई अलग कमरा मिल जाता है तो ठीक वरना मैं तुम्हारे लिए किसी अलग कमरे का इंतजाम कर दूँगा जहाँ बैठकर तुम अपना लिखने का काम पूरा कर सको। अगर तुमको मेरी बात ठीक लगे तो मैं विवाह का यह शोरगुल रुकते ही पिताजी, मामाजी और पल्लवी के पिताजी से बात करूँ? हमारे सारे सुझाव कन्यापक्ष के हित में जाते हैं। उनको एक ऐसा लड़का मिल रहा है जिसका भविष्य निश्चित रूप से उज्ज्वल है। और वह भी बिना किसी दहेज के। हम लोग पल्लवी जैसी लड़की को किसी भी मूल्य पर छोड़ना नहीं चाहते। वह एक घरेलू किस्म की बुद्धिमती लड़की है। मेरी मामी बेहद सीधी हैं और मामाजी तो देवता–पुरुष हैं। वह उनको आदर देते हुए उनके साथ अच्छी तरह से निभा ले जायगी। यदि कोई 'आधुनिका' आ गई तो बड़ी मुश्किल खड़ी हो जायगी। तुम्हारे लिए घर से अलग रहने के अलावा और कोई रास्ता न बचेगा। मेरी ननिहाल क्षत–विक्षत हो जायगी।"

प्रशान्त दादा का दृष्टिकोण एकदम व्यवहारिक था। उनके निर्णय के आगे मैंने चुपचाप सिर झुका दिया। मैं जानता हूँ कि संसार में उनसे बड़ा मेरा हितैषी और कोई नहीं है। मेरे मौन को उन्होंने स्वीकृति समझ लिया।

रिश्तेदारों के चले जाने के बाद मेरी माँ ने बहू को चूल्हा छुआ दिया। दो दिन और रहकर वे अपने घर चली आईं। भाभी ने रसोईघर का काम सँभाल लिया। सबेरे का चाय–नाश्ता और दोपहर की कच्ची रसोई वे ही बनातीं। शाम को पहले की तरह रसोइया आता और पूड़ी–साग बनाकर चला जाता। शाम को कॉलेज से लौटते हुए प्रशान्त दादा कुछ फल और मिठाइयाँ ले आते। भाभी के आते ही घर का परिवेश बदल गया। वे किसी भी आगत व्यक्ति को चाय–नाश्ता के बिना जाने न देतीं। पिताजी की शोध–छात्राएँ उनसे हिल–मिल गईं। भाभी फूफाजी के भोजन के समय और उनकी रुचि का विशेष ध्यान रखतीं।

उस दिन मैं फूफाजी के पास आया था। तब भाभी ने नई बात बतलाई। वे बोलीं,"मेरा और पल्लवी का स्नेह–सम्बन्ध किसी से छिपा नहीं है। सारे नाते खून के ही नहीं होते। सम्बन्धों में विचारों की समानता एक बड़ी भूमिका निभाती है। दो अलग–अलग परिवारों की होते हुए भी पल्लवी मेरी बहन जैसी है। मैं तो बँगले से कहीं जा नहीं पाती लेकिन वह कभी–कभी मुझसे मिलने आ जाती है। एक दिन दोपहर के समय 'कॉलबैल' बजी तब मैं बाथरूम में थी। पिताजी ने ही उठकर दरवाज़ा खोला। पल्लवी मेरे पास आई थी। पिताजी उसे पहचानते हैं। मेरे विवाह में उसे उन्होंने देखा था। 'आओ बेटी' उन्होंने कहा और वे शिष्टाचार

के नाते उसे अपने कमरे में ले गए। उनकी बातचीत तब तक चलती रही, जब तक कि मैं बाथरूम से निकल कर न आ गई। यह ज़ानकर मेरी प्रसन्नता की सीमा न रही कि पिताजी पल्लवी के विचारों से बहुत प्रभावित हुए हैं। उसके जाने के बाद उन्होंने मुझसे पूछा,"बड़ी समझदार लड़की है। इसके विचार बड़े स्पष्ट और सुलझे हुए हैं। कितनी सौम्य और विनयशील है? किसकी लड़की है यह?"

मैंने बतलाया,"पं० जगमोहन शुक्ल की। वे यहाँ एडीशनल कलक्टर हैं।"

"उनका नाम तो मैंने भी सुना है। वे बड़े ईमानदार और निष्पक्ष अधिकारी बतलाए जाते हैं।" वे बोले। "मैं उनसे मिला तो नहीं हूँ।" मैंने अनुकूल अवसर देखकर उनके सामने अपनी बात रख दी–

"पिताजी ! प्रद्युम्न भैया के लिए मैंने यही लड़की पसन्द की है। फिर आप लोगों की जैसी राय हो।"

वे बोले,"प्रद्युम्न से भी पूछा है? अभी तो वह अपने रिसर्च के काम में ही लगा है। उसके पास अवकाश ही कहाँ है, यह सब सोचने का। अपनी थीसिस पूरी होने तक वह शादी नहीं करेगा। उधर लड़की के पिता भी कोई आई०ए०एस० लड़का खोज रहे होंगे।"

मैं बोली,"ऐसा कुछ नहीं है। वे राजी हैं। मामाजी तो किसी मामले में कुछ बोलते ही नहीं हैं। मामीजी ने कहा, 'आप जीजाजी से बात कीजिए। वे ही इस घर के पुरखा हैं।' बात अभी विवाह की नहीं सगाई की है। अभी इसी वर्ष पल्लवी ने मेरे साथ ही फर्स्ट क्लास में एम० एस–सी० किया है। बड़ी मेधावी छात्रा रही है।"

"पिताजी मेरी बात से सहमत होते हुए बोले, तुम्हारी राय अपनी जगह बिल्कुल ठीक है। अच्छी लड़कियाँ संयोग से ही मिलती हैं।" इस प्रकार मेरी समस्या अपने आप ही सुलझ गई। "प्रद्युम्न भैया ! उस दिन पल्लवी की दादी कह रही थीं कि जोड़ियाँ विधाता मिलाते हैं। जब काम होना होता है, तब वैसे ही संयोग भी बन जाते हैं। सारी कड़ियाँ अपने आप ही जुड़ती जाती हैं।"

एक दिन शुभ मुहूर्त देखकर मेरी माँ ने पल्लवी के घर जाकर सगाई की रस्म पूरी कर दी। वे पल्लवी को बनारसी साड़ी, सोने का कंगन, फल और मिठाइयाँ दे आईं।

मेरी थीसिस का काम चल रहा था। मुझे ऐसे ग्रन्थकारों की हस्तलिखित चित्रमयी पोथियाँ मिल रही थीं, जिनका नाम तक किसी ने न सुना था। विषय साहित्य का था लेकिन वह चित्रकला का अंचल भी छूता था, जो मेरा प्रिय विषय था। प्रशान्त दादा से बहुत सहयोग मिल रहा था। भाभी प्रोत्साहन देतीं,

कहतीं,"तुम्हारा काम नई ज़मीन खोदने का है। तुमने कई लुप्त साहित्यकारों, विशेष रूप से अचर्चित कवियों का उद्धार करके पुण्य और कीर्ति दोनों अर्जित किए हैं।" मैंने थीसिस के अध्यायों को अंतिम रूप देना प्रारम्भ कर दिया।

पल्लवी जब भी सुचित्रा भाभी से मिलती, मेरे कार्य के प्रगति के बारे में अवश्य पूछती। वह संतुष्ट थी कि सब कुछ ठीक ही चल रहा है। इस बीच में उसने हिन्दी टाइपिंग सीख ली। भाभी कहती हैं कि अब तो उसकी अच्छी खासी स्पीड भी हो गई है। सुचित्रा भाभी एक अध्याय पूरा होते ही मुझसे ले लेती हैं और टाइप के लिए पल्लवी को दे देती हैं। इस प्रकार कार्य समुचित रूप से प्रगति कर रहा है।

एक दिन मेरी पूरी थीसिस टाइप होकर विश्व–विद्यालय में भेज दी गई। उसकी प्रति जिन विद्वान के पास भेजी गई थी, उनकी मुझ पर विशेष कृपा थी लेकिन इस बारे में उनसे कुछ भी कहना उचित नहीं था। डिग्री मिल जाना निश्चित था।

इसी बीच संयोगवश एक घटना और हुई। विश्व–विद्यालय के हिन्दी विभाग के एक वरिष्ठ व्याख्याता, 'रीडर' होकर चण्डीगढ़ युनिवर्सिटी चले गए। साक्षात्कार में मुझे भी बुलाया गया और विभाग में एक व्याख्याता के रूप में मेरी नियुक्ति हो गई। फूफाजी ने कुलपति महोदय से मेरे बारे में बात तक न की। वे कड़े सिद्धान्तों के व्यक्ति हैं लेकिन प्रशान्त दादा का प्रयत्न, सुचित्रा भाभी का आशीर्वाद और पल्लवी का भाग्य सब साथ जुड़ गए। यह सब इसी के कारण सम्भव हुआ।

जाड़े की ऋतु चल रही थी। फरवरी में मेरे विवाह का मुहूर्त निकला। मौसम अच्छा था। न बहुत सर्दी न बहुत गर्मी। विवाह फूफाजी के आग्रह से उनके बँगले से ही हुआ। नगर के अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति पल्लवी के घर द्वाराचार में शामिल हुए। वे लोग कॉफी लेकर चले गए। रह गए केवल चालीस बराती। पल्लवी के पिताजी ने उसे जो भी दिया, वह सब बक्सों में बंद था। उसे किसी को दिखलाया भी नहीं गया। वे कभी किसी से एक कप चाय भी नहीं पीते लेकिन बेटी के विवाह में वे विवश हो गये। मित्रों और सम्बन्धियों ने कहा,"हम आपको कुछ भी नहीं दे रहे, लेकिन बिटिया को देने से आप हमें रोक नहीं सकते।" हालाँकि विवाह में लेन–देन या दहेज की कोई बात न थी लेकिन मेरे पिताजी को दहेज से अधिक ही मिला। विदा के बाद पल्लवी मेरे घर आ गई। मेरे छोटे से घर में भी वह खुश थी।

X X X

फूफाजी शाम को चार बजे चाय पीते हैं। सुचित्रा भाभी एक दिन चाय लेकर उनके कमरे में गई। "पिताजी आज मैं आपसे एक अनुमति लेने आई हूँ।"

फूफाजी ने पूछा,"किस बात की?" वे समझे कि शायद कुछ दिनों के लिए बहू अपने घर जाना चाहती है। लेकिन बात यह न थी। भाभी ने कहा,"मैं रिसर्च करना चाहती हूँ। यहाँ घर में तो कोई विशेष काम रहता नहीं। यदि आपका आदेश मिल जाय तो–"

"प्रशान्त से पूछा? उनकी इस बारे में क्या राय है?" फूफाजी ने जानना चाहा। "सुझाव उन्हीं का है। लेकिन पहले मुझे आपकी अनुमति चाहिए।" भाभी ने स्पष्ट किया।

"तुम्हारी शोध का विषय तो वनस्पति शास्त्र से ही सम्बन्धित होगा न !" उन्होंने पूछा।

"मैं देवदार पर काम करना चाहती हूँ। चीड़ आदि का तुलनात्मक अध्ययन भी साथ रहेगा।" भाभी ने कहा।

फूफाजी हँसे,"देवदार का मूल संस्कृत नाम 'देवदारु' है, अर्थात् देवताओं का काष्ठ। उसके पत्ते को देखो तो लगता है कि कोई देव–पुरुष अपने हाथ की उँगलियों को आशीष देने के लिए फैलाए है। वह नगराज हिमालय का महावृक्ष है। हिमालय तो 'देवतात्मा' हैं। वे माता पार्वती के पिता हैं। उनका दर्शन स्वयं में शुभ है। बेटी ! तुम्हारे पुण्य उदय हुए हैं।"

फिर फूफाजी ने सुचित्रा भाभी को महाराज दिलीप और देवधनु कामधेनु की पुत्री नन्दिनी की, महाकवि कालिदास के महाकाव्य 'रघुवंश' की एक घटना सुनाई। वे बोले, "देवदारु की रक्षा करने वाले सिंह रूपी शिवगण कुम्भोदर ने महाराज दिलीप से कहा था–

अमुपुरः पश्यति देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेयकुम्भस्तनभिः सृतानां स्कन्दस्य मातुःपयसां रसकः।।[1]

यह थी वृक्षों के प्रति हमारी भावना ! कण्व ऋषि के आश्रम में शकुन्तला आश्रम के वृक्षों में स्वयं घड़े भर–भरकर पानी देती थी। अथर्ववेद के पृथ्वी–सूक्त में कहा गया है कि यह वृक्ष, वल्लरियाँ, नदियाँ और पर्वत सब हम लोगों जैसे ही माता–भूमि के पुत्र–पुत्रियाँ हैं।"

फिर तो फूफाजी ने संस्कृत–साहित्य में हिमालय और देवदारु पर एक छोटा–सा भाषण ही दे डाला। उनके कंठ में मानो सरस्वती विराज गई थीं।

1- इस वृक्ष को शिवजी ने अपना पुत्र माना है। यह सोने के घड़े के जल के रूप में स्कन्द-माता के दूध के स्वाद को जानता है। 'रघुवंश द्वितीय सर्गः-36'

भारवि के 'किरातार्जुनीय' और कालिदास के 'कुमारसम्भव' के श्लोक उनके ओठों पर थिरक रहे थे। भाभी मंत्रमुग्ध–सी उस प्रकाण्ड पांडित्य को देख रही थीं और अपने भाग्य को सराह रही थीं। वे कहते जा रहे थे–

"वनस्पति शास्त्र हमारे देश के लिए नया नहीं है। अथर्ववेद के ऋषि ने सच ही कहा है कि यह पेड़–पौधे हमारे बन्धु हैं। ये अपने जीवन का श्रेष्ठतम अंश हमें प्रदान करते हैं। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है कि मैं नदियों में गंगा हूँ और वृक्षों में अश्वथ–पीपल हूँ। गंगा–जल को कितने ही दिन तक रक्खो, वह कभी दूषित नहीं होता। पीपल में आक्सीजन देकर पर्यावरण को शुद्ध करने की जितनी क्षमता है, उतनी और किसी में नहीं। यों तुलसी और नीम भी गुणों में कम नहीं हैं।"

सुचित्रा भाभी ने श्रद्धा से कहा–"मैं आपकी 'बहू–बेटी' ही नहीं हूँ, आपकी शिष्या भी हूँ। मेरे भाग्यदेवता मुझ पर अनुकूल हैं। अन्यथा मुझ पर आपका यह वरदहस्त कैसे आता?"

फूफाजी बोले,"जाओ बेटी ! तुम्हें मेरी ओर से पूरी स्वीकृति है। भगवान् तुम्हें यशस्विनी करें। अपने क्षेत्र में सफल करें।"

कालेज से आने पर भाभी ने प्रशान्त दादा को सारी घटना सुना दी। उनको भी प्रसन्नता हुई। उन्होंने एक दिन भाभी को युनीवर्सिटी ले जाकर वनस्पति शास्त्र के अध्यक्ष से मिला दिया। पूर्व–परिचय तो था ही। उन्होंने भी भाभी को प्रोत्साहित किया। भाभी ने अपनी थीसिस के 'सिनोप्सिज़' बनाकर विश्व–विद्यालय में जमा करा दिए। उनका 'रजिस्ट्रेशन' हो गया।

इस बीच मेरी थीसिस स्वीकृत हो चुकी थी और मुझे डिग्री भी मिल गई थी। मेरी नियुक्ति के लिए वह आवश्यक थी और इसी शर्त पर मेरी नियुक्ति हुई थी।

प्रशान्त दादा को फोटोग्राफी का शौक है। फूफाजी का विदेशी, कीमती कैमरा उन्हीं के पास रहता है। गर्मियों की छुट्टियों में वे और भाभी पहाड़ों की ओर निकल जाते। भाभी अपने नोट्स तैयार करतीं और वे जो भी बतलातीं, प्रशान्त दादा उसका फोटो ले लेते। सूक्ष्म वस्तुओं का फोटो लेने का उपकरण और उसके लिए आवश्यक लैन्स भी उन्होंने मँगवा लिए थे। फूफाजी को वे लोग आग्रह पूर्वक अपने साथ ले जाते। उन्होंने उनको बद्रीनाथ और केदारनाथ के दर्शन भी करा दिए। सुचित्रा भाभी कहतीं, "पिताजी जब आप साथ होते हैं तब मैं चिन्तामुक्त होकर अपना काम कर सकती हूँ।" एक बार मैं और पल्लवी उन लोगों के साथ उत्तराखण्ड में 'फूलों की घाटी' देखने गए।

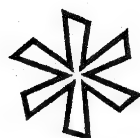
वे लोग जब भी बाहर जाते हैं तब सुरक्षा की दृष्टि से मुझे और पल्लवी को बँगले पर छोड़ जाते हैं। इस प्रकार जीवन सुचारु रूप से चलता जा रहा

है। सुचित्रा भाभी ने मुझे जीवन में बहुत कुछ दिया –दिवंगत बुआजी का निर्मल निश्छल स्नेह, बहिन का आत्मिक प्रेम और भाभी का अटूट विश्वास। पल्लवी जैसी प्रभु के वरदान जैसी जीवन संगिनी को मिलाने का श्रेय तो उन्हीं को है। मेरे दो कविता–संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। थीसिस का प्रकाशन शासकीय अनुदान से होने जा रहा है।

एक दिन हम दोनों, मैं और पल्लवी फूफाजी के बँगले गए थे। उस दिन सुचित्रा भाभी बहुत अच्छे मूड में थीं। हँसकर बोलीं "सुनो कविपत्नि पहले मैंने तुम दोनों को अलग–अलग पकड़ा और फिर दोनों को एक ही खूँटे से बाँध दिया देखती हूँ कि अब तुम लोग मुझे छोड़कर 'कैसे' कहाँ जाते हो?"

वे कमरे में डबल बैड पर अधलेटी सी थीं। पल्लवी ने कुर्सी से उठकर उनके गले में दोनों हाथ डाल दिए। वे उसके सिर को अपनी गोद में रख कर उसे धीरे–धीरे सहलाने लगीं। मेरी भावना इतनी बलवती हो उठी कि मैंने उठकर भाभी के पैर पकड़ लिए। वे कहती ही रहीं "अरे–अरे प्रद्युम्न भैया, क्या करते हो?"लेकिन मेरा सिर उनके पैरों में रखा था और मेरे आँसू उन्हें धो रहे थे। सब निःशब्द थे। केवल पल्लवी मुस्कराते हुए यह देख रही थी कि "धरती पर स्वर्ग कैसे उतर आया है?"

□□



कथा आचार्य वरतन्तु की

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृयामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः।। 4।।
कायेन वाचा मनसापि शश्वद्यत्संभृतं वासवधैर्यलोपि।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षे स्त्रिविधं तपस्तत्।। 5।।
आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम्।
कच्चिन्न वारवादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रम पादपानाम्।। 6।।
क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु।
तंकशय्या च्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः।। 7।।

महाराज रघु ने आसन पर बैठे हुए उन तपोधन (कौत्स) की पूजा की और उनके निकट आकर बोले–

"हे कुशाग्र बुद्धि ! मन्त्रों की रचना करने वाले ऋषियों में प्रमुख आपके गुरु (वरतन्तु) कुशल से तो हैं? जिस प्रकार सूर्य से प्राणियों को चेतना मिलती है, उसी प्रकार आपने गुरु से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है"।। 4।।

"उन्होंने शरीर, वाणी और मन से इन्द्र के धैर्य को नष्ट करने वाला जो तप निरन्तर संचित किया है। महर्षि का वह तीन प्रकार का तप किसी प्रकार के विघ्न से नष्ट तो नहीं हो रहा है?"।। 5।।

"विशेष रूप से थाले आदि बनाकर, अनेक यत्न करके पुत्र से भी अधिक प्रिय मानकर, बढ़ाये गए और थकावट को दूर करने वाले आपके आश्रम के वृक्षों को कहीं वायु आदि से बाधा तो नहीं पहुँची"।। 6।।

"मुनि लोग अनुष्ठान के साधन स्वरूप कुशों के प्रति जिनकी इच्छा को अपने वात्सल्यभाव के कारण नहीं रोकते और जो उनकी गोद की शैय्या पर ही अपनी नाभि की नाल छोड़ देते हैं, ऐसे हिरनियों के छौने संकट मुक्त तो हैं?" ।। 7 ।।

(महाकवि कालिदास कृत 'रघुवंश', पंचम सर्ग)

मंत्रदृष्टा ऋषियों में अग्रगण्य महर्षि वरतन्तु की कीर्ति–कौमुदी समस्त उत्तर भारत में छिटक रही थी। उन्होंने शिक्षा के 'ब्रह्म–यज्ञ'[1] को अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया था। जैसे बीज समय पाकर छायादार वृक्ष का रूप ले लेता है, वैसे ही उनका छोटा–सा आश्रम एक विशाल विद्यापीठ के रूप में विकसित हो गया था। उसके विकास की पृष्ठभूमि में उनकी वर्षों की साधना थी। वाराणसी नगर से कुछ दूर उनका विद्यापीठ भगवती जाह्वी के तट पर किनारे–किनारे बहुत दूर तक फैला था। उनका विद्यापीठ नगर के कोलाहल से दूर था, किन्तु इतना दूर भी नहीं कि नगर की सुविधाओं से वंचित रह जाय। इस शिक्षण संस्था का यश वेद–विद्या के केन्द्र के रूप में अधिक था। वाल्हीक से लेकर प्राग्ज्योतिष तक के ज्ञानार्थी इस विद्यापीठ में अध्ययन करना अपना सौभाग्य समझते थे। उसमें प्रवेश पा सकना कठिन था। केवल प्रतिभाशाली छात्र ही कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् उसमें प्रवेश पा पाते थे, फिर भी उनकी संख्या सहस्त्रों में थी। महर्षि वरतन्तु इस विद्यापीठ के कुलपति थे। अपने विषय में निष्णांत आचार्य और उपाध्याय चारों वेदों, वेदांगों, मीमांसा, तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा इतिहास–पुराण विद्या के विभागों का कार्य–भार सँभाले हुए थे। उनकी संख्या सौ से अधिक थी। उनका आवास विद्यापीठ से कुछ दूर था, जहाँ उनके परिवारों के रहने की समुचित व्यवस्था थी। निकटवर्ती नृपतियों, उदार नगर–श्रेष्ठियों और उच्चवर्गीय नागरिकों के दान से ही विद्यापीठ की आर्थिक माँगें पूरी होती थीं। उनके पुत्र भी विद्यापीठ में कठोर परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद ही प्रवेश पा सकते थे और वहाँ के छात्रों जैसा ही सादा जीवन बिताते थे। अध्यापकों की वेतन राशि और विद्यार्थियों के भोजनादि का भार विद्यापीठ ही वहन करता था। सारे विद्यापीठ में कुलपति वरतन्तु का ही वर्चस्व था। यों वे लोकप्रिय थे किन्तु उनका अनुशासन कठोर था। उसमें हाथ डालने का साहस किसी में न था।

आज कुलपति–निवास में गहरा सन्नाटा छाया है। महर्षि वरतन्तु का मन आज अत्यधिक उद्विग्न है। ऐसा लगता है कि उनके मन के शान्त सरोवर में किसी ने नुकीला पत्थर फेंक दिया हो। परन्तु इस मनःस्थिति के लिये कोई अन्य व्यक्ति

1- मनुस्मृति, 3,70

नहीं, वे स्वयं ही उत्तरदायी हैं। वे अपने मन को जितना ही शान्त रखने की चेष्टा करते हैं, उनके चित्त की उद्विग्नता उतनी ही बढ़ती जा रही है। आचार्य वरतन्तु की कीर्ति एक तपोधन ऋषि के रूप में रही है। मन, शरीर और वाणी को एक रूप करके एक बार उन्होंने जो तप किया था, उससे देवराज इन्द्र विचलित हो उठे थे। वे ही वरतन्तु एक साधारण मनुष्य की भाँति एक क्षणिक मनोविकार से हार गए। उनकी विद्यापीठ का सर्वाधिक प्रतिभाशाली स्नातक, चौदहों विद्याओं में निष्णांत, उनका प्रिय शिष्य कौत्स उनके द्वारा किए गए अपमान से आहत होकर न जाने कहाँ चला गया? उसी को तो उन्होंने इस विद्यापीठ के भावी कुलपति के रूप में देखा था। कौत्स के लिए सदा से उनका एक–एक शब्द 'ब्रह्म–वाक्य' रहा है। भगवती सरस्वती की सतत् साधना में दिन–रात खोया रहने वाला कौत्स तो लोक–व्यवहार में एक भोले बालक जैसा है। उसी से वे चौदह करोड़ स्वर्ण–मुद्राओं की गुरु–दक्षिणा माँग बैठे ! छिः ! छिः !! आचार्य वरतन्तु का मन उन्हीं को धिक्कारने लगा। वह स्थिति, जब मनुष्य अपनी ही दृष्टि में गिर जाय, बड़ी दुःखद होती है; बड़ी भयानक ! "देश के विद्वत्समाज को जब यह बात मालूम होगी, तब वह मुझे क्या कहेगा?" एक क्षण–भर की झुँझलाहट इतना अनर्थ कर डालेगी, इसकी तो उन्होंने कभी कल्पना भी न की थी।

कौत्स को विद्यापीठ से गए हुए आज तीन दिन बीत चुके हैं। विद्यापीठ के आचार्यो तथा मित्रों के आग्रह के बाद भी वरतन्तु और उनकी धर्मशीला पत्नी ने कुलदेवता का प्रसाद तक ग्रहण नहीं किया है। बस अपनी किशोरी पुत्री मनीषा को समझा–बुझाकर थोड़ा–बहुत खिला–पिला दिया है। वह बार–बार पूछती है–"कौत्स दादा कहाँ गए हैं? वे कब तक वापस लौटेंगे?" और वे निरुत्तर हो जाते हैं। अधिक अनुरोध करने पर आचार्य श्री एक सूखी–सी हँसी हँसकर मित्रों से कह देते हैं, "जब अपराध बन पड़ा है, तो प्रायश्चित तो करना ही पड़ेगा।" उनका मन एक गहरे पश्चात्ताप की आग में जल रहा है; छटपटा रहा है !

कभी वे सोचते कि कौत्स आज नहीं तो कल तो लौटकर आयेगा ही। कौन देगा उसे इतनी बड़ी स्वर्ण–राशि? कौत्स पिछले कई वर्ष से उनके घर में पुत्र की भाँति रह रहा है। मानव–मन के पाशों में सबसे दृढ़ होता है–मोह का बन्धन ! क्या कौत्स अपनी उस गुरु–माता से, जिसने उसे माँ का स्नेह और ममता दी है, कभी अलग रह सकेगा? क्या वह अपनी भोली बहन मनीषा को भी भूल जायगा, जिसे वह अपनी सहोदरा जैसा स्नेह करता है?

तभी दूसरा विचार आकर उसे अपने में ढँक लेता है। यह सच है कि मनुष्य

को अपना अस्तित्व; अपना जीवन अधिक प्रिय होता है, किन्तु उसका आत्म–सम्मान उसके जीवन से भी मूल्यवान होता है। कौत्स सारी विद्याओं में पारंगत है। संसार बहुत बड़ा है। वह उसके किसी अनजान कोने में जीवन–यापन कर लेगा। अब वह इस विद्यापीठ में लौटकर नहीं आयेगा। उनके मन में तर्क–वितर्क चल रहे हैं।

सहसा पूर्व स्मृतियाँ जाग उठीं। आज से बारह वर्ष पहले किशोर कौत्स अपने पिता के साथ उनके आवास पर आया था। तब विद्यापीठ की कल्पना एक बीज मात्र थी। कौत्स का उपनयन–संस्कार हो चुका था। कंठ में पतला सा यज्ञोपवीत पड़ा था; उज्ज्वल गौर वर्ण, मसें भींगती हुई। उसने जब उनके चरण–स्पर्श लिए तब उनकी इच्छा हुई कि उसे कंठ से लगा लें। सोया हुआ पितृत्व उमड़ आया। कौत्स के मुख पर एक चमक थी; एक उत्साह था। वह काशी में पढ़ने जो आया है। कौत्स की जननी ने उसे अबोध शिशु के रूप में छोड़कर इस संसार से विदा ली थी। उसके पश्चात् उसके ग्रामीण पिता ने ही माता, पिता और शिक्षक तीनों के कर्त्तव्य पूरे किए थे। उपनयन संस्कार के पश्चात् किशोर आगे अध्ययन करने काशी जाया करते थे। कौत्स के पिता को लगा कि अब वह समय आ गया है, जब कौत्स को किसी विद्वान आचार्य से विधिवत् शिक्षा प्राप्त करना चाहिए। वे उसे आचार्य वरतन्तु के पास छोड़ गए। कौत्स गुरु के घर पर ही रहकर पढ़ने लगा। उसके पिता जब गाँव से आते तब अपने खेतों का अन्न और घर की गायों का घृत लेते आते। इस प्रकार कौत्स का अध्ययन क्रमशः आगे बढ़ने लगा। गुरुपत्नी ने कौत्स को पाकर मातृ–तृप्ति का अनुभव किया और मातृ–हीन बालक को ममतामयी माँ मिल गई। नाता दोनों ओर के आकर्षण से ही दृढ़ होता है। पिछले बारह वर्षों में वह विद्यापीठ की समस्त विद्याओं में पारंगत हो गया है। उसका व्यक्तित्व और भी निखर आया है। स्वयं आचार्य वरतन्तु ने बूँद–बूँद करके उस घट को अपने ज्ञानामृत से भरा है किन्तु भगवती सरस्वती की महती अनुकम्पा के बिना क्या ऐसी सिद्धि सम्भव है?

कुछ वर्षो के पश्चात् मनीषा का जन्म हुआ। कौत्स के रूप में उसे अपना स्नेहिल अग्रज मिला। आश्रम धीरे–धीरे एक विद्यापीठ के रूप में विकसित होता जा रहा था। आचार्य वरतन्तु उसी में व्यस्त रहते। घर की सारी व्यवस्था का भार आचार्य–पत्नी सँभालतीं। कौत्स उनका दाहिना हाथ बन गया था। जब विद्यापीठ का भवन बन गया तब भी कौत्स की गुरु–माता ने उसे वहाँ जाकर रहने की अनुमति न दी।

कौत्स के अचानक आवास छोड़ देने के पश्चात् सारा वातावरण अशांत हो उठा है। सभी उद्विग्न और चिन्तित हैं। आहार त्याग देने पर आचार्य–श्री और

उनकी पत्नी का जीवन कितने दिन चलेगा? कौत्स के पिता भी घर से आ गए हैं। वे भी आचार्य वरतन्तु और उनकी पत्नी को ढ़ाढस बँधा रहे हैं, "कौत्स निश्चित ही लौटकर आयेगा।" घटनाचक्र ने यह कैसा मोड़ ले लिया? अब तक सब कुछ व्यवस्थित रूप से चल रहा था। तीन दिन पहले की बात है। निकटस्थ राज्यों के नृपतियों के कुछ पुत्र भी विद्यापीठ में शिक्षा पा रहे थे। उनकी शिक्षा का सत्र पूरा हो चुका था। वे विद्यापीठ से विदा लेकर अपनी राजधानियों में वापस जा रहे थे। वे आचार्य–श्री से प्रार्थना कर रहे थे कि वे उनको अपनी गुरु–दक्षिणा बतला दें ताकि वे उस धनराशि को अपने पिता से कहकर उन्हें भिजवा सकें। वरतन्तु बोले, "नहीं, मैं कुछ भी नहीं बतला सकता। यह विद्यापीठ भी उन्हीं की है। मैं तो मात्र एक माध्यम हूँ। यह सब मेरी नहीं, उन्हीं के सोचने की बात है।" आचार्य वरतन्तु ने बड़ी शालीनता से उन्हें उत्तर दिया। कौत्स ने भी इसी सत्र में अपना अध्ययन पूरा किया था। उसने भी आचार्य से अपनी गुरु–दक्षिणा बतला देने के लिए कहा। वरतन्तु ने शांत भाव से कहा, "तुम्हारी इतने वर्षों की गुरु–सेवा ही तुम्हारी गुरु–दक्षिणा है।"

वास्तविकता यह थी कि वे दंभी राजपुत्र कौत्स की प्रतिभा से मन–ही–मन जलते थे। आचार्य वरतन्तु का उत्तर सुनकर वे एक–दूसरे की ओर देखकर मुस्कराने लगे और संकेत करने लगे। कौत्स ने उनके हाव–भाव देख लिए। उनको अपना अपमान अखर गया। वर्ग–चेतना और वर्ग–संघर्ष इस देश के लिए नया नहीं है। एकलव्य, राजपुत्रों से कहीं आगे न बढ़ जाय, इसलिए द्रोणाचार्य ने उसका अँगूठा कटवा लिया। कर्ण, श्रेष्ठतम योद्धा होते हुए भी द्रौपदी–स्वयंवर में और उसके बाद भी अपमानित होते रहे। वर्ग–संघर्ष सामंतवाद की देन है। राजपुत्रों ने कौत्स की प्रतिभा और ज्ञान के श्रेष्ठत्व को कभी स्वीकार न किया था। कौत्स उस समय उनके तिरस्कार को सहन न कर सके। उन्हें ऐसा लगा कि उनकी आराध्या सरस्वती, समृद्धि और ऐश्वर्य की स्वामिनी लक्ष्मी के आगे विवश हो, सिर झुकाए खड़ी हैं। उनका तेज जाग उठा। उन्होंने फिर विनम्रता पूर्वक कहा,"गुरुदेव, कुछ तो कहें।" उनकी बात अभी पूरी भी न हो पाई थी कि आचार्य को क्रोध आ गया। उन्हें यह अच्छा न लगा कि एक बार उनका उत्तर सुनकर कौत्स उनसे पुनः आग्रह करे। वे तमक कर बोले, "तुमने यहाँ चौदह विद्याएँ सीखी हैं। इसकी गुरु–दक्षिणा है, चौदह करोड़ स्वर्ण–मुद्राएं !" उनकी यह बात सुनकर कौत्स की विपन्नता पर राजपुत्र मुस्कराने लगे। कौत्स को लगा कि यह उनके स्वाभिमान पर किया गया तीखा प्रहार है। गुरु हो या पिता तभी तक प्रतिष्ठा का अधिकारी होता है, जब तक वह निष्पक्ष रहता है। संतुलन एक ओर झुकते ही उसकी मर्यादा नष्ट हो जाती है। कौत्स ने सोचा, "राजपुत्र ही नहीं आचार्य वरतन्तु भी ! आखिर वे उनके पिताओं के दिए गए दान से ही तो विद्यापीठ चलाते हैं।"

कौत्स मर्माहत थे। उनका शरीर थर–थर काँप रहा था। इतनी स्वर्ण–मुद्राएँ दे सकने की तो उन राजाओं की भी क्षमता न थी। कौत्स उन राजपुत्रों का तो अपमान झेल सकते हैं; जिनके प्रत्येक शब्द को उन्होंने 'वेद–वाक्य' समझा है, उन आचार्य वरतन्तु का नहीं। वे उठे। उन्होंने गुरु को प्रणाम किया और राजपुत्रों पर एक तीखी दृष्टि डालकर, प्रत्यंचा से छूटे वाण की भाँति चल दिए। गुरु–माता के पास तक न गए, न बहन मनीषा से मिले।

तिरस्कार से आहत कौत्स उठकर चल तो दिए लेकिन उनका अपना गंतव्य क्या है? वे यह निश्चय न कर सके कि कहाँ जाँय? कौन देगा उनको इतनी बड़ी स्वर्ण–राशि? उनकी दशा उस जल–पोत जैसी थी जो अनिश्चय की स्थिति में एक ओर लंगर डाले खड़ा हो। सहसा उनके पैर साकेत की ओर मुड़ गए। वे चलते रहे; चलते रहे। पूरा दिन बीत गया। रात घिर आई। कौत्स के मुँह में दिन भर से अन्न का एक दाना भी न पड़ा था। भूखे पेट नींद कैसे आती लेकिन दिन भर की थकान जो थी। वे एक पेड़ के नीचे ईंट का सिरहाना लगाकर लेट गए। थोड़ी देर में नींद आ गई, निद्रा और थकान !

सबेरे वे किसी की आवाज़ सुनकर आँखें मलते हुए उठ बैठे। कोई उनके पास खड़ा कह रहा था,"पथिक ! उठो। देखो सूर्य कितना ऊपर चढ़ आया है। बहुत थके लगते हो। पैर धूल से भरे हैं। मैं अपना खेत देखने आया हूँ। वह दूर पर देख रहे हो न, वही मेरा गाँव है। उठो, मेरे साथ मेरे घर चलो। वहाँ चलकर नित्य–क्रिया से तो निवृत्त हो लो। तुम्हें कहाँ जाना है, यह बात बाद में करेंगे।" प्रेम और सहानुभूति के दो शब्दों में बड़ी शक्ति होती है। कौत्स मंत्राविष्ट की भाँति उस किसान के साथ चल दिए। घर पहुँचे तो गृहिणी और बच्चों ने कौत्स को आश्चर्य से देखा। धीरे–धीरे बच्चे पास आए। निश्छल हृदय में बच्चों को अपनी ओर खींचने की बड़ी शक्ति होती है। कुछ क्षणों में ही कौत्स उस परिवार में ऐसे हिल–मिल गए, मानों वर्षों से पूर्व–परिचित हों। प्रेम की भाषा तो आँखों से बोलती है। कृषक परिवार के सहज, अहेतुक स्नेह ने कौत्स को अभिभूत कर दिया। उनको लगा कि संसार में कहीं कोई भी अपरिचित नहीं है। सबकी वाणी में तो प्रभु बोलते हैं। उस किसान–परिवार का स्नेह क्या वे जीवन में भूल सकेंगे? दम्पति उनके भैया–भाभी बन चुके थे और बच्चे उनको 'चाचा' कहकर सम्बोधित कर रहे थे। उन्होंने कुछ दिन रुककर जाने का आग्रह किया। कौत्स के अत्यधिक आग्रह पर दूसरे दिन सबेरे जलपान कराकर और मार्ग का पाथेय बाँधकर किसान उनको अपनी बैलगाँड़ी में साकेत ले आया और राजभवन के द्वार पर उनको छोड़कर बोला,"मेरा नाम महीधर है और गाँव का नाम चन्दनपुर है। तुम्हारी ज़िद थी, तो ले आया

लेकिन लौटते समय घर रुकते हुए जाना। सीधे चले मत जाना। मैं तुम्हारी बाट देखूँगा।''

हाय रे ! कितना निर्मल स्नेह। कौत्स की आँखें भर आईं। राजभवन के आगे बड़ी चहल–पहल थी। राज–कर्मचारी और नागरिक आ–जा रहे थे, लेकिन कौत्स उस भीड़ में भी अकेले खड़े थे। तभी एक वृद्ध सज्जन वहाँ से निकले। वे कुछ देर कौत्स की ओर देखते रहे। फिर निकट आकर बोले, ''आप इस नगर के निवासी नहीं जान पड़ते। यहाँ क्या आप किसी–की प्रतीक्षा कर रहे हैं?''

कौत्स बोले,''आपका अनुमान सत्य है, महानुभाव ! मैं इस महानगर से अपरिचित हूँ और यहाँ मेरा कोई सम्बन्धी, मित्र अथवा परिचित भी नहीं है।''

''क्या मैं आपका साकेत आने का प्रयोजन जान सकता हूँ?'' भद्रपुरुष ने पूछा।

''महाराज रघु के दर्शनों की लालसा ही मुझे यहाँ तक खींच लाई है।'' कौत्स ने कहा।

''आप उनसे मिलेंगे। अवश्य मिलेंगे। हम लोगों के लिए तो वे पितृ–तुल्य हैं किन्तु उनके जीवन–मूल्य अलग हैं। प्राणि–मात्र के लिए उनके हृदय में निर्मल स्नेह का झरना बहता है। उनका व्यक्तित्व विमुग्धकारी है। वे एक परम प्रतापी सम्राट ही नहीं, महायोगी भी हैं। वे एक बार भी जिससे मिल लेते हैं, वह सदा के लिए उनका हो जाता है। वह अपने मन से उन्हें कभी छोड़ नहीं पाता।

''वसुन्धरा ऐसी विभूतियों को जन्म देकर स्वयं को कृतार्थ अनुभव करती है। निश्चित ही आप लोग परम सौभाग्यशाली है।'' कौत्स ने कहा।

वृद्ध सज्जन कौत्स को राजभवन के विशाल द्वार पर ले गए। वहाँ एक सेनानायक अपने हाथ में भाला लिए खड़े थे। सिर पर सिरस्त्राण और कमर में तलवार थी। कुछ प्रतिहारी उनको घेरे हुए खड़े थे।

वृद्ध सज्जन ने सेनानायक से कहा, ''यह नवागन्तुक सम्राट के दर्शन की अभिलाषा लेकर साकेत आए हैं।'' सेनानायक ने कौत्स की ओर जिज्ञासा की दृष्टि से देखा। कौत्स उनका आशय समझ गए। वे अपना परिचय देते हुए बोले,'मैं प्रख्यात् ऋषि आचार्य वरतन्तु का शिष्य कौत्स हूँ। सम्राट के दर्शनों की अभिलाषा से साकेत आया हूँ।''

''कृतार्थ हुआ ऋषिवर ! महर्षि वरतन्तु का नाम उत्तरापथ में भला किसने नहीं सुना? आपसे मिलकर प्रभु प्रसन्न होंगे। इस राजभवन के द्वार तो सरस्वती–पुत्रों के लिए सदा खुले हैं।'' फिर एक प्रतिहारी को बुलाकर कहा,''ऋषिवर को अतिथि–भवन ले जाओ और इनको स्वागत–कक्ष के अधिकारी से मिला दो। उनसे कहना कि इनको मैंने भेजा है। अनुकूल अवसर देखकर वे इनको महामहिम सम्राट

से मिला देंगे।''

प्रतिहारी कौत्स को अपने साथ ले गया।

कौत्स अतिथि–भवन की एक चौकी पर बैठे विगत् दिनों के घटना–क्रम पर विचार कर रहे थे। क्या आचार्य वरतन्तु के प्रति उनका व्यवहार संयत और शालीन न था? उनका उत्तर सुनकर क्या उन्हें फिर गुरु–दक्षिणा की बात नहीं उठानी चाहिए थी? कौत्स जानना चाहते थे कि उनसे ऐसी कौन–सी भूल हुई, जिसके दण्ड–स्वरूप यह स्थिति सामने आ गई? कौत्स ने कभी आचार्य वरतन्तु को इस प्रकार उत्तेजित न देखा था। उनके सामने उन उद्धत, अहंकारी राजपुत्रों के चेहरे आ गए; उनकी व्यंग और तिरस्कारपूर्ण मुद्रा ! उन्होंने फिर सोचा कि जो हुआ, वह अदृश्य का एक खेल था। विवेकी बीती हुई बातों का सोच नहीं किया करते। तभी उनको अपनी गुरु–माता का ध्यान आ गया। इस अभागे, मातृहीन कौत्स को कितना प्यार दिया उन्होंने? फिर वह उनसे मिलकर भी नहीं आया। मिलता तो क्या वे आने देतीं? उनके नेत्रों में आँसू भर आए। न जाने उन्हें कहाँ खोजती भटक रही होगी, सहज–विश्वासी भोली मनीषा !

कौत्स की यह मनोदशा कब तक चलती रहती, तभी स्वागत–कक्ष के अधिकारी ने आकर कहा,''ऋषिवर ! प्रभु अर्ध्य देने पधार रहे हैं। कौत्स हड़बड़ाकर उठ बैठे। कुछ देर में एक दीर्घकाय पुरुष अपने हाथ में मृत्तिका–पात्र लिए, उनको अर्ध्य देने आ खड़े हुए। देह पर मात्र यज्ञोपवीत और अधोवस्त्र है, जिसका एक छोर कंधे पर उत्तरीय की भाँति पड़ा है; उन्नत, प्रशस्त भाल, वृषभ से चौड़े स्कंध, केहरी का वक्ष, खिले कमल जैसे बड़े–बड़े नेत्र और आजानु भुजाएँ। न माथे पर स्वर्ण–मुकुट, न राजाओं का परिधान और न शरीर पर रत्नालंकार ! फिर भी मुख–मण्डल कितना प्रदीप्त है। अंग–प्रत्यंग से मानो ज्योति–रश्मियाँ निकल रही हैं। तो यह हैं भारत के परम प्रतापी सम्राट रघु, जिन्होंने समस्त देश को जीतकर वक्षु तक आर्यों की विजय–पताका फहराई है। यह हैं महाराज दिलीप के अमृत–फल; देवधेनु नन्दिनी के आशीष से प्राप्त। तभी सम्राट रघु बोले,''मेरा प्रणाम स्वीकार करें और अंतर की श्रद्धा का प्रतीक अध र्य ग्रहण करें ऋषिवर ! ''अर्ध्य देकर महाराज रघु ने पूछा–''क्या मुझे इस वेश में देखकर आपको आश्चर्य हुआ?''

''तनिक भी नहीं, महाराज !'' कौत्स ने कहा,''विश्वजित यज्ञ में तो अपना सर्वस्व दान कर ही दिया जाता है। जल से भरा मेघ श्रेष्ठ है परन्तु जल बरसाकर लौटा मेघ तो महादानी है।'' महाराज रघु ने उस मृत्तिका पात्र के जल से ही कौत्स को अर्ध्य दिया। इसके पश्चात् उन्होंने पूछा–

"अनेक मंत्रों की रचना करने वाले आचार्य वरतन्तु कुशल से तो हैं?" उन्होंने आश्रम के निवासियों की नहीं, उसके मृग–शावकों और वृक्ष–बल्लरियों के सम्बन्ध में भी गहरी रुचि प्रदर्शित की। "सम्राट कितने संवेदनशील हैं?" कौत्स के मन में उनके प्रति एक श्रद्धा–भाव जाग उठा।

अर्घ्य दे चुकने के पश्चात् जब महाराज रघु ने आसन ग्रहण कर लिया, तब कौत्स ने उनसे पूछा,"महाराज ! आपकी दिग्विजय यात्रा कैसी रही।" सम्राट रघु के ओठों पर एक मन्द स्मित उभर आया,"मुनिवर ! विजय शस्त्रों से नहीं होती। जब एक मनुष्य अपने उदार मन से दूसरे मनुष्य के हृदय को जीत ले, तभी उसे विजय समझना चाहिए। मेरी यात्रा के उद्देश्य भी अन्य थे, ऋषिवर !"

कौत्स को उन वृद्ध सज्जन की बात स्मरण हो आई। उन्होंने कहा था कि महाराज के जीवन–मूल्य अलग हैं। कौत्स ने महाराज रघु से जिज्ञासा की, "और वे उद्देश्य कौन–से थे?"

"इस यात्रा के दो उद्देश्य थे। एक अमित्रों को मित्र बनाना और दूसरा अपनी उस माता–भूमि के दर्शन करना, जिसे हमारे पूर्वजों ने स्वर्ग से भी श्रेष्ठ माना है। आप लोगों के आशीर्वाद से मेरे दोनों ही उद्देश्य पूरे हुए।" महाराज रघु कहते जा रहे थे,"जिन लोगों ने कर देकर साकेत के चक्रवर्तित्व को स्वीकार किया और उसे अपनी सुरक्षा का उत्तरदायित्व सौंपा, वे तो प्रारम्भ से ही उसके मित्र–राज्य थे, परन्तु जिन नृपतियों ने स्वाभिमान की प्रेरणा से प्रेरित होकर मेरी सेना के साथ युद्ध किया, उनको भी मैं सम्मान की दृष्टि से देखता हूँ। मैंने कभी उनको शत्रु नहीं समझा। यह बात कोई अर्थ नहीं रखती कि साकेत की विशाल चतुरंगिनी सेना के आगे उनकी छोटी–सी सेना टिक न सकी और युद्ध–क्षेत्र में उनको पराजित होना पड़ा। युद्ध से पहले मैंने अपने सेनानायकों को यह आदेश दिए थे उन राजाओं की प्रत्येक दशा में प्राण–रक्षा की जाय। पराजित होकर उन्होंने कर देना स्वीकार किया किन्तु मैंने उनमें से किसी को अपने पद से नहीं हटाया। उनके प्रतिष्ठित पद से उनको च्युत नहीं किया। आज वे सब मेरे मित्र हैं। वे मुझे अग्रज समझकर मेरे पास परामर्श लेने आते हैं। मैं उनका शुभेच्छु हूँ। वे सब विश्वजित यज्ञ में आमंत्रित थे और आयोजन की सारी व्यवस्था उनके हाथों में थी। जो कल तक रण–क्षेत्र में अपनी सेना लेकर उतरे थे, आज वे ही मेरे लिए कीर्ति–स्तम्भों की रचना कर रहे हैं। कवियों से श्लोक लिखाकर शिलांकृत कर रहे हैं। मैं यह कहते हुए अपने को सौभाग्यशाली अनुभव कर रहा हूँ कि मैं अजातशत्रु हूँ। इस विशाल देश में मेरा एक भी शत्रु नहीं है। यों तो सारा विश्व ही मेरा परिवार है।"

"पूर्वजों ने कहा है–**'उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'**। महाराज, यह आपकी भावना की विजय है।" कौत्स बोले। "मैं परम प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि आपकी यह उदात्त भावना अक्षुण्ण रहे।"

"अब मैं अपनी यात्रा का दूसरा उद्देश्य भी आपके आगे निवेदित कर दूँ।"

महाराज रघु बोले,"मैं और मेरी सेना कई वर्ष तक साकेत से बाहर रही। सारा शासन–भार मेरे महामंत्री जी ही सम्भालते रहे। इस दीर्घ अवधि में इतने बड़े साम्राज्य में विद्रोह तो दूर कहीं असंतोष की हल्की–सी लहर भी न उठी। हम लोगों ने, मैंने और मेरी सेना ने सुदूर दक्षिण तक की यात्रा की। सेना के वाहनों ने, प्रशिक्षित अश्वों और गजों ने कावेरी, नर्मदा और गोदावरी जैसी नदियों को जलपोतों पर कैसे पार किया, यह एक रोमांचक अनुभव था। दक्षिण के अधिपति पाण्ड्य देश के नृपति ने मैत्री रूप मुझे श्रीलंका के बड़े–बड़े मोतियों की माला भेंट की। केरल में मैंने लवंग और इलायची के वृक्ष देखे। कदली के बड़े–बड़े उद्यान देखे। मेरी सेना ने पूर्वी और पश्चिमी घाट में प्रकृति का अनिंद्य सौन्दर्य देखा। उसके पश्चात् मेरी सेना कामरूप तक गई और फिर पश्चिम में यवनों के देश तक–वक्षु के तट तक, कादिणी तक–ऋषिवर ! माता–भूमि के दर्शन करके मैं धन्य हो गया।" महाराज रघु कहते–कहते भावना से अभिभूत हो उठे।

उनकी स्थिति को देखते हुए कौत्स ने उनसे गुरु–दक्षिणा की बात न कही। वे तो अपना सर्वस्व, राजकीय परिधान और शरीर के रत्नालंकार तक दान कर चुके हैं। उनके मन को कष्ट देने से क्या लाभ? जब कौत्स ने उनसे जाने की अनुमति माँगी तो महाराज को कोई भूली बात स्मरण हो आई। "आप यहाँ पधारे और मैं उपकृत हुआ किन्तु आपने अपने आगमन के उद्देश्य के बारे में तो कुछ भी नहीं कहा।" वे बोले।

कौत्स जो नहीं कहना चाहते थे, वही उनको कहना पड़ा। उनको लगा कि स्थिति कैसी भी क्यों न हो, रघु जैसे महानुभाव से उसे छिपाना वांछनीय नहीं है। उन्होंने किसी भोले बालक के समान निश्छल भाव से उनसे सब कुछ कह दिया। एक शब्द भी न छिपाया।

महाराज रघु बोले,"आप समस्त शास्त्रों में पारंगत ऋषि हैं। फिर आपको यह निधि भी स्वतः के लिए नहीं, अपितु गुरु–दक्षिणा के लिए चाहिए। आप दो–तीन दिन रुक जाइए। कुछ–न–कुछ तो व्यवस्था होगी ही। मैं आपको इस प्रकार निराश न जाने दूँगा। मैं अभी–अभी ही विजय–अभियान से लौटा हूँ। आपका इस उद्देश्य के लिए कहीं भी जाना कोई अर्थ नहीं रखता। किसी नृपति के

राज्य–कोष में चौदह करोड़ स्वर्ण–मुद्राएँ नहीं हैं। यह संख्या भी मात्र कहने के लिए ही कही गई है, क्षणिक आवेश में।"

कौत्स से विदा लेकर महाराज रघु अपने राजभवन में चले गए।

भोजन के पश्चात् कौत्स विश्राम करने लगे। थोड़ी देर में नींद आ गई। कई दिन की थकान थी। तभी उन्होंने स्वप्न देखा कि मनीषा उनको चारों ओर खोजती फिर रही है। नींद टूट गई।

महाराज रघु ने विचार किया कि इतनी प्रचुर स्वर्ण–राशि केवल यक्षपति कुबेर से प्राप्त हो सकती है। लेकिन अपनी उस चिर–संचित राशि को कुबेर उनको देगा? वह महाकृपण है। जिस सम्पत्ति का लोक में प्रचलन है, उसकी स्वामिनी लक्ष्मी हैं किन्तु जो धन छिपाकर रखा गया है, वह कुबेर की सम्पदा है। इसीलिए जन–मानस कुबेर की पूजा नहीं करता। उसके लिए मन्दिरों की प्रतिष्ठा भी नहीं करता। कुबेर नर–वाहन है। उसका हृदय पाषाण–तुल्य है। जो भी हो महाराज रघु ने अकेले ही उसकी समृद्धिशालिनी नगरी अलका पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया। वे अपना धनुष और वाणों का तूणीर लेकर रात्रि में अपने रथ में ही आकर लेट गए। सारथी को आदेश दे दिया।

भोर भी नहीं हुआ कि महामंत्री ने आकर कहा, "महाराज ! आज रात्रि में कोषागार में स्वर्ण–मुद्राओं की वर्षा हुई।"

महाराज रघु ने समझ लिया कि कुबेर की गणना देव–परिवार में की जाती है। उसमें दूसरों के मन की बात जान लेने की शक्ति है।

नित्य–कर्म के पश्चात् रघु कोषागार की ओर चले। सेवक भेजकर उन्होंने कौत्स को भी वहीं बुलवा लिया। वे यह चमत्कार देखकर आश्चर्यचकित रह गए।

फिर प्रारम्भ हुआ एक नया विवाद। महाराज रघु का आग्रह था कि यह सारी स्वर्ण–राशि जो आपके निमित्त आई है, उसे ले जावें। कौत्स केवल उतनी ही स्वर्ण–मुद्राएँ ले जाना चाहते थे जितनी कि उनको गुरु–दक्षिणा में आचार्य वरतन्तु को देनी हैं।

अन्त में महाराज रघु जीते और ऋषि कौत्स हार गए। उनको वह समस्त स्वर्ण–राशि ऊँटों पर लाद कर ले जानी पड़ी।

महाराज रघु ने अपने महामंत्री को कौत्स के साथ जाने का आदेश दिया। रथ ले आने की आज्ञा दी। साथ में सुरक्षा के लिए शस्त्रों से सज्जित सोलह अश्वारोहियों को निधि के रक्षार्थ जाने का आदेश दिया। सौ ऊँटों पर स्वर्ण–मुद्राएँ लाद दी गईं।

X X X

कौत्स को विद्यापीठ से गए हुए आज चौथा दिन है। उनकी खोज के लिए जो ऋषिकुमार भेजे गए थे, वे वापस आ गए परन्तु कौत्स का कहीं पता न चला। तभी वरतन्तु की किशोरी पुत्री मनीषा अपने घर आई। वह दौड़ती हुई आई थी और हाँफ रही थी, "माँ, माँ ! कौत्स दादा आ गए।" गुरु–पत्नी हड़बड़ाकर उठ बैठीं, "कौत्स, कहाँ है मेरा कौत्स?"

"वे आ रहे हैं। मैं तो पगडण्डी से दौड़ती हुई आ गई। वे मुख्य मार्ग से रथ पर आ रहे हैं। मैं विद्यापीठ के सीमान्त पर खड़ी थी। तभी मैंने कौत्स भैया को रथ पर एक वृद्ध पुरुष के साथ आते देखा। माँ, जो भी देखा एक सपना–सा लगता है।"

"जब से तेरा कौत्स भैया गया, तब से भूखी–प्यासी भटक रही है। बोल तूने कौत्स को सपने में तो नहीं देखा?" उसकी माँ बोली।

'अरे, नहीं माँ नहीं। पहले तो मैं समझी कि किसी राजा ने विद्यापीठ पर चढ़ाई तो नहीं कर दी। सबसे आगे दो श्वेत अश्वों का रथ, जिस पर राजकीय पताका फहरा रही है। उसमें कौत्स भैया एक वृद्ध सज्जन के साथ बैठे हैं। उनके दोनों ओर अश्वारोही चल रहे हैं। उनके भालों के नेजे धूप में चमक रहे हैं। पीछे ऊँटों की कतार है। बस, मैं इतना ही देख सकी और आपको बताने दौड़ी चली आई।" मनीषा ने कहा।

इतना कहकर मनीषा बाहर दौड़ गई। उसकी माँ भी उसके पीछे चलीं। जाते–जाते वे आचार्य वरतन्तु से कहती गई,"सुनते हो, कौत्स लौट आया है।"

मनीषा और उसकी माँ विद्यापीठ के प्रवेश द्वार पर कौत्स के रथ की प्रतीक्षा करने लगीं। अब घोड़ों की हिनहिनाहट और उनके पैरों की टापें स्पष्ट सुनाई देने लगीं। निकट आकर अश्वरोहियों ने जय–ध्वनि की–

"परम प्रतापी महाराज रघु की जय !
यशस्वी महर्षि वरतन्तु की जय !!"

रथ विद्यापीठ के प्रवेश–द्वार पर आकर रुक गया। गुरु–माता और मनीषा को वहाँ खड़ा देखकर कौत्स अपने रथ से कूद पड़े। उन्होंने भू–लुण्ठित होकर ऋषि–पत्नी को प्रणाम किया। उनका उत्तरीय धूल में सन गया,"माँ ! मातुश्री अपने इस दुर्बुद्धि पुत्र को क्षमा करो, जो जाते समय आपसे अनुमति भी न ले सका।" ऋषि–पत्नी ने उन्हें दोनों हाथों से उठाया और उन्हें अपने कन्धे से लगा लिया। वे निःशब्द थीं परन्तु उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी। मनीषा बोली,"कौत्स भैया, तुम चले कहाँ गए थे। चार दिन से माताजी और पिताजी के मुँह में अन्न का एक दाना भी नहीं पड़ा। इन्होंने कुल–देवता का प्रसाद तक ग्रहण नहीं किया।"

"मैं बहुत लज्जित हूँ। मनीषा, मेरी बहन ! मेरा अपराध गुरुतर है।" आचार्य वरतन्तु अपने कक्ष से उठकर बाहर आ गए। महामंत्री ने रथ से उतर कर उनको प्रणाम किया। वरतन्तु ने अपनी विद्यापीठ में उनका स्वागत किया।

कौत्स आचार्यश्री के चरणों पर गिर पड़े। आचार्य वरतन्तु ने स्नेह से उनकी पीठ पर हाथ रखते हुए कहा,"कौत्स ! पुत्र और शिष्य में कोई अंतर नहीं होता। फिर मैंने तो तुम्हें सदा अपना पुत्र ही माना है। तुम्हीं सोचो कि जब तुम मुझसे बार–बार गुरु–दक्षिणा की बात करोगे तो मुझे बुरा तो लगेगा ही। तुम्हीं सोचो, मेरे एक क्षणिक आवेश के लिए तुमने मुझे और इस परिवार को कितना बड़ा दण्ड दे डाला।"

फिर उन्होंने स्वर्ण–मुद्राओं से लदे ऊँटों पर दृष्टि डाली। वे बोले,"और यह सब क्या है?" कौत्स निरुत्तर सिर झुकाए खड़े रहे। उत्तर दिया महामंत्री जी ने,"ऋषिवर ! मेरे स्वामी ने आपकी सेवा में ऋषिकुमार कौत्स की गुरु–दक्षिणा भेजी है। इसे स्वीकार करके कृतकृत्य करें।"

आचार्यश्री ने कौत्स से कहा, 'वत्स ! तुम जाकर अतिथियों के भोजन की व्यवस्था करो। पशु भी भूखे होंगे।"

महामंत्री ने कहा,"आप इसकी चिन्ता न करें। आपको यह निधि सौंपकर हम चले जावेंगे। महाराज की यही आज्ञा है।"

"नहीं, यह कैसे हो सकता है?" वरतन्तु ने प्रतिवाद किया।

ऊँटों से बोरियाँ उतार विद्यापीठ के प्रांगण में रख दी गई। महामंत्री ने फिर कहा,"आचार्यश्री इनकी गणना की व्यवस्था करें।"

वरतन्तु मानो नींद से जाग पड़े। वे देर तक गहरे विचार में खोए रहे। फिर महामंत्री से बोले,"मेरे आगे एक जटिल समस्या खड़ी हो गई है। कौत्स सम्राट रघु के पास तक चला गया। इसमें व्यवहार–बुद्धि तनिक भी नहीं है। उनके आगे मैं लज्जित ही नहीं अपराधी अनुभव कर रहा हूँ। विश्वजित यज्ञ के पश्चात् कौत्स ने उनके आगे एक समस्या खड़ी कर दी।" वे रुके। उनका कण्ठ भर आया,"हम लोग तो सदा ग्रन्थों में खोए रहने वाले लोग हैं। हमारा लोक–व्यवहार का ज्ञान शून्य के सदृश्य है। परन्तु आप पर तो समग्र भारत का शासन भार है। मेरी समझ में नहीं आ रहा कि मैं क्या करूँ? कृपा करके इसका निराकरण करें कि क्या क्षणिक आवेश या झुँझलाहट में कहे गए शब्द, युक्ति–संगत, विचार–योग्य माने जा सकते हैं?" आचार्य वरतन्तु के मन की व्यथा पिघली हुई धातु की भाँति शब्दों में बह चली।

महामंत्री ने संयत वाँणी में कहा, "शब्द जब तक अव्यक्त विचार–मात्र हैं, वे आपके अपने हैं किन्तु व्यक्त हो जाने के बाद नहीं। दूसरे के मन पर उनका कैसा

और क्या प्रभाव पड़ता है, यह उसकी संवेदनशीलता और मनःस्थिति पर निर्भर है। फिर आपस के सम्बन्धों की बात है। 'अति परिचय से अवज्ञा' यह उक्ति भी आपने सुनी होगी। क्षणिक आवेश एक मानवीय दुर्बलता है, कोई अपराध नहीं, जिसके दण्ड का कोई प्रावधान हो।"

"मेरी शंका को अपना समाधान मिल गया। सम्राट रघु महान व्यक्ति हैं। उनका हृदय सागर–सा विशाल और गम्भीर है। कौत्स को अभी कोई सांसारिक ज्ञान नहीं है परन्तु मैं अपने को कैसे क्षमा करूँगा? लोक मेरी लोभ–वृत्ति पर हँसेगा। ऋषि–समाज की दृष्टि में मैं गिर जाऊँगा। यह तो आप जानते ही हैं कि साधना–भ्रष्ट को कोई भूमि शरण नहीं देती। आचार्य वरतन्तु भावना की तरंगों में बहते जा रहे थे। उनकी वाणी रूँध रही थी। "नृपति वाह्य शत्रुओं से युद्ध करते हैं परन्तु हम लोग इन्द्रियों का दमन करते हैं और आंतरिक शत्रुओं काम, क्रोध, लोभ और मोह के वशीभूत नहीं होते। जाने–अनजाने क्रोध तो मुझसे हो ही पड़ा और मुझे उसका प्रायश्चित भी करना पड़ा। परन्तु अब क्या मैं दूसरे शत्रु लोभ का वशवर्ती हो जाऊँ? महामहिम सम्राट रघु की मुझ पर सदैव कृपा रही है। उन्होंने मुझे सदा ज्ञान के प्रति समर्पित ग्रन्थकार का सम्मान दिया है। फिर ये स्वर्ण–मुद्राएँ? मैं क्या करूँगा इनका? सम्राट से कहना कि वे मुझे क्षमा करें। वरतन्तु इन स्वर्ण–मुद्राओं को स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पा रहा है।"

महामंत्री चौंक पड़े। बोले,"यह आप क्या कह रहे है, आचार्यश्री? स्वयं सम्राट ने मुझे यह आदेश दिया है कि मैं इस स्वर्ण–राशि को भेंटकर, जितना शीघ्र हो, राजधानी लौट आऊँ। आप भावनावश शीघ्रता में कोई निर्णय न लें। महामहिम सम्राट इससे धर्म–संकट में फँस जायेंगे। पहले आप सारी घटना सुन लीजिए।" महामंत्रीजी ने वरतन्तु को सारी घटना सुना दी और कहा कि "सम्राट एक मुद्रा भी अपने पास नहीं रक्खेंगे।"

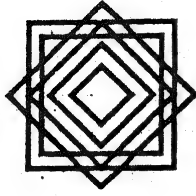
आचार्य वरतन्तु उलझन में पड़े थे किन्तु महामंत्रीजी मुस्करा रहे थे। उन्होंने पूछा,"जिसको दाता ने दिया, वह लेना नहीं चाहता। स्वयं दाता लौटाना नहीं चाहता। फिर यह निधि किसकी है?" आचार्यश्री ! आश्रम आपका निजी था किन्तु विद्यापीठ तो आपका निजी नहीं है। इसकी एक समिति है जो इसका प्रबन्ध देखती है। उसके अपने नियम हैं। यह निधि विद्यापीठ के स्थायी कोष में जायेगी। मूलधन सुरक्षित रहेगा। केवल इसके ब्याज को समिति जैसा भी चाहेगी, लोकोपकार के कार्यों में लगावेगी। आप इससे अनासक्त रहना चाहते हैं, बने रहिए। कितने कार्य होने को हैं। गार्गी और मैत्रेयी की परम्परा लुप्त होती जा रही है। इसके ब्याज से उनके लिए विद्यापीठ खोलिए। दुर्लभ ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ कराकर उनको दूरस्थ प्रदेशों में भिजवाइए। लुप्त विद्याओं का

उद्धार कीजिए। जनपद में पेयजल और चिकित्सा की व्यवस्था कीजिए। आप स्वयं इस कार्य को और निधि को विद्यापीठ की समिति को सौंप दें।"

"एक बात और। सम्राट ऋषि कौत्स की अर्थ निस्पृहता से अत्यंत प्रसन्न और संतुष्ट हैं। इनकी शिक्षा पूर्ण हो ही चुकी है। राज्य के न्यायमंत्री नरसिंह शर्मा अति वृद्ध हो चुके हैं। वे बार–बार सेवा–निवृत्ति की बात कहते हैं। महाराज .कौत्स को उनके सहकारी के पद पर नियुक्त करना चाहते हैं। कुछ समय पश्चात् ये भारत के न्यायमंत्री होंगे। इनको पृथक् वाहन और भवन प्रदान किया जायेगा। इनके पिता भी यहाँ उपस्थित हैं। योग्य कन्या देखकर इनके विवाह की तैयारी कीजिए।" "आप, गुरु–माता और आपकी पुत्री मनीषा, जब तक चाहेंगी, राजधानी में रहेंगी।"

महामंत्री यह कहकर चुप हो गये। सब लोग संतुष्ट और प्रसन्न थे। आचार्य वरतन्तु चिन्तामुक्त थे। कौत्स सम्राट के चरणों के पास रहना चाहते थे। उनकी आकांक्षा पूर्ण हो रही है। सबसे अधिक प्रसन्न थी, मनीषा। उसकी पसन्द की लड़की से ही कौत्स दादा का पाणिग्रहण जो होना है। महामंत्री जी ने जब राजधानी में लौटकर महाराज रघु को सारी घटना बतलाई तो उनको ,बड़ी प्रसन्नता हुई। अच्छा हुआ; "कृपण कुबेर की निधि सुकृत्यों में लग रही है।" वे बोले।





पुण्य-पथ

मेरी आदत सबेरे कुछ जल्दी उठने की है लेकिन उस दिन मेरी आँख कुछ और भी जल्दी, बहुत तड़के खुल गई। नित्य की भाँति मैंने मंजन आदि से निवृत्त होकर चाय बनाई। बाहर काफी उजाला था। लगता था कि अभी थोड़ी देर मे सबेरा हो जायेगा। मैंने कमरा बन्द किया। बाहर गेट पर ताला लगाया और छड़ी लेकर बाहर सड़क पर आ गया। लेकिन मुझसे एक भूल हो गई। मैंने चलने से पहले घड़ी नहीं देखी। प्रातः टहलना मेरा रोज़ का नियम है। काशी विश्व–विद्यालय के प्रवेश द्वार पर पहुँच कर मुझे अपनी भूल का अहसास हुआ। उस दिन मकर–चाँदनी रात थी। मालवीयजी की मूर्ति के एक ओर फाटक के पास कुछ रिक्शेवाले सो रहे थे। अक्सर मैं लंका चौमुहानी पर पहुँच कर दो रास्तों में से एक पकड़ लेता हूँ। उनमें से एक सड़क संकट मोचन हनुमान के मंन्दिर को एक ओर छोड़ती हुई दुर्गाकुण्ड पहुँच जाती है और दूसरी सुनारपुरा होती हुई गुदौलिया। आज मैं सीधा उस सड़क पर चला गया जो कुछ दूर तक विश्व–विद्यालय की दीवार से सटकर चलती है और फिर गंगा की ओर मुड़ जाती है। गंगा पार सामने रामनगर है। उस सड़क पर कुछ प्रोफेसरों के बँगले हैं।

मैं उस सड़क पर कुछ ही दूर चला था कि एक महिला को सफेद साड़ी पहने हुए देखा। वे कभी आगे जाती थीं और फिर पीछे लौट आती थीं। मुझे लगा कि वे यूनीवर्सिटी के किसी प्रोफेसर का बँगला खोज रही हैं। इतनी रात में किसी स्त्री का इस प्रकार अकेले घूमना मुझे निरापद नहीं लगा। जब वे मेरे पास से निकलीं तो मैंने पूछ ही लिया, "आप किसी का बँगला खोज रही हैं क्या ?"

"नहीं, नहीं, ऐसा कुछ नहीं है, धन्यवाद!" उन्होंने उत्तर दिया।

मैंने चलने के लिए अपना पैर आगे बढ़ाया ही था कि मुझे उनकी हँसी की खनक सुनाई दी "सुनिए तो, न आप अपनी बहन उमा को पहचान रहे हैं और

न उसकी आवाज को।"

मैं चौंका–, "उमा तुम यहाँ कहाँ ?" मेरी दृष्टि पीछे की ओर घूम गई। हँसती सी आँखें लिए उमा खड़ी थी। सिर से साड़ी खिसक गई थी।

उमा मेरी संगी बहन नहीं है। मेरा उसके साथ रक्त सम्बन्ध भी नहीं है। मैं ब्राह्मण हूँ और वह पास के एक गाँव के चौहान ठाकुरों के परिवार की कन्या है। परन्तु मेरे पिता और उमा के पिता की एक ही गाँव में जमींदारी रही है। उगाही वसूल करने वे घोड़ों पर प्रायः साथ–साथ ही जाते थे। एक लम्बे अर्से से मेरे घर से उनके घर के घनिष्ट सम्बन्ध चल रहे हैं। हम लोग उमा के पिताजी को ठाकुर चाचा कहते हैं। अपने गाँव के स्कूल से आठवीं कक्षा उत्तीर्ण करके उमा आगे पढ़ने के लिए शहर में आ गई और अपनी विधवा ताई के साथ मेरे बाहर बैठक के कमरों में रहने लगी। मेरा छोटा भाई प्रेमशंकर भी आठवीं पास करके नवीं में आया था। उन दोनों के स्कूल अलग थे लेकिन पाठ्यक्रम एक ही था। उन दिनों मैं बी० ए० का छात्र था। एक दिन मेरे पिताजी ने कहा "हरि! इन दोनों के लिए एक घंटा निकालो।" तब से मैं शाम को प्रेमशंकर और उमा को साथ–साथ पढ़ाने लगा। इस प्रकार चार साल निकल गये। उमा प्रेमशंकर के होली–दिवाली टीका करती और रक्षाबंधन के दिन हम दोनों के राखी बाँधती । उन दोनों को मैंने चार साल नवीं से लेकर बारहवीं कक्षा तक साथ–साथ पढ़ाया। राजकीय कन्या इंटर कॉलेज से बारहवीं कक्षा पास करके वह अपने गाँव लौट गई। उसके पिताजी उसके लिए योग्य घर–वर की खोज कर रहे थे।

मैंने उमा से पूछा, "उमा, तुम वाराणसी कब आई ? तुम्हें तो यह तो मालूम ही होगा कि मैं यहाँ हूँ, फिर सीधे घर क्यों नहीं चली आई ?"

वह कुछ काँपते हुए बोली, "हरि दादा ! मैं तो दो दिन से आपको ही खोज रही हूँ।" इतना कहकर मेरे पास आकर उसने मेरे कंधे पर अपना सिर रख दिया और फूट–फूटकर रोने लगी। उसकी सारी देह केले के पत्ते की भाँति काँप रही थी। लगता था कि वह अभी गिर जायगी। मैं उसे एक हाथ से साधे था। सिसकते हुए उसने कहा,"दादा ! मैं आपसे झूठ बोली। मैं आपकी बहन उमा नहीं, उसका छलावा हूँ। उमा तो दो साल पहले ही इस संसार को छोड़कर चली गई। मैं तो केवल उसकी छाया; उसका छलावा हूँ।" उसकी सिसकियाँ रुक ही नहीं रही थीं।

मैं इसे 'प्रभु–कृपा' ही कहूँगा कि उस असामान्य स्थिति में भी न मैं विचलित हुआ और न भयभीत ! मैंने दृढ़ता से कहा,"तुम कुछ भी क्यों न हो, मेरे लिए तुम मेरी बहिन उमा ही हो। मेरी जीती–जागती बहिन उमा। फिर भी मैं तुम्हारे दुःख में सहभागी हूँ।"

"हरि दादा ! मैं आपका सहारा लेने आई हूँ। इतने बड़े संसार में मुझे कोई

भी न सँभाल सकेगा। न किसी में इतना आत्मिक बल है और न किसी के पास इतना विशाल हृदय ही है।''

मैंने उसे आश्वस्त करते हुए कहा,''मैंने तुमसे चार साल तक बड़े भाई का आदर पाया है; तुम्हें छोटी बहिन का स्नेह दिया है। मैं तुम्हारे मन की संतुष्टि चाहता हूँ।''

उमा अवाक् मेरी ओर देख रही थी। उसकी आँखों में आँसू छलछला रहे थे। मैंने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा,''तुम्हें याद होगा मैंने तुम्हें प्रसाद जी की यह पंक्ति पढ़ाई थी–

'छलना थी, फिर भी उसमें मेरा विश्वास घना था।'

''उमा, मेरी बहिन ! तुम अपने को कुछ भी कहो 'छलना' या 'छलावा' लेकिन उससे तुम पर मेरा विश्वास; मेरी ममता कम तो नहीं हो जाती !''

''मैं जानती हूँ। तभी न आपके पास आई हूँ। सालों आपके घर को अपना घर समझ कर रही। किसी ने मुझे कभी पराया नहीं माना। चाची हाथ पकड़कर बिठाल लेती थीं; उमा ! आलू के पराठे सिक रहे हैं। यहीं खा लो।''

मैंने कहा,''तुम अपने को छलावा बता रही थीं, उमा ! यह संसार सत्य है और मिथ्या भी। इसीलिए ब्रह्मवादियों ने इसे 'भ्रम' कहा है। सच बतलाना कि मनुष्य का जीवन क्या अपने–आप में एक भ्रम; एक छलावा नहीं है? अभिनेता मंच पर जब तक अपनी भूमिका कर रहा है, तब तक उसका अभिनय, उसका कथनोपकथन, उसकी भाव–मुद्राएँ सब कुछ सत्य हैं। यवनिका गिर गई तो सब मिथ्या है। मृत्यु जीवन की चरम परिणति मानी गई हैं। हालाँकि वह जन्म–जन्मान्तर की यात्रा का एक पड़ाव भर है। अंतिम लक्ष्य है, मोक्ष अथवा निर्वाण; आत्मा का परमसत्ता में लीन हो जाना; समाहित हो जाना। मृत्यु से शक्तिशाली उससे बड़ी एक और वस्तु है और वह है, हमारे मन में बसा निस्वार्थ, स्वर्गिक प्रेम। मेरे गुरु ने कहा है–

'प्रेम महान है। वह तुम्हारा अनुगमन नहीं करेगा। तुम्हीं को उसके बतलाए हुए मार्ग पर चलना होगा। भले ही उसका रास्ता कंटकाकीर्ण हो और उसके काँटे तुम्हारे सारे शरीर को लोहू-लुहान कर दें।'[1]

''इस ममता को, इस आत्मीयता को मृत्यु भी नहीं जान पाती। उसके आगे मृत्यु हार जाती है। तुम मेरी बहिन हो और मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। हमारा यह नाता शरीर का नहीं, आत्मा का है। इससे अधिक न मैं जानता हूँ और न जानना चाहता हूँ।''

1- ख़लील जिब्रान, 'प्रोफेट'।

उमा ने अपनी आँखों के आँसू पोंछ डाले थे और मेरी बात बड़े ध्यान से सुन रही थी। मैं मानो किसी भावावेश में कहता जा रहा था–"सुनो उमा ! हम अपने पिता के मृत शरीर को अग्निदेवता को सौंपने श्मशान जाते हैं। शव वही है। श्मशान भी वही है। हम रो रहे होते हैं लेकिन श्मशान में खड़े डोम की दृष्टि हमारे आँसुओं पर नहीं, शव पर पड़ी कीमती चादर पर होती है। अंतर केवल प्रेम का है। हमारे मन में अपने पिता के प्रति प्रेम है। उसके मन में नहीं है। मृत्यु भी हमारे मन से पिता के प्रेम को नहीं हटा सकी। हम भली–भाँति जानते हैं कि हमारे पिता अब इस संसार में नहीं हैं फिर भी हम पूर्ण श्रद्धा के साथ उनका श्राद्ध करते हैं। इस विश्वास के साथ ब्राह्मण–भोजन कराते हैं, जैसे कि वह हमारे पिता को ही प्राप्त हो रहा है। हमारे पुराण–ग्रन्थों में श्राद्ध का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। उमा, मेरी बहिन ! यह तो बतलाओ कि यह सत्य है या छलावा? चलो घर चलते हैं। यह प्रसंग तो कभी समाप्त नहीं होंगे–**'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।'** उमा मेरे साथ चलने लगी कि जैसे हम लोग अभी टहल कर लौटे हैं। मेरे साथ चलते हुए उमा बोली, हरि दादा ! कुछ भी कहो, मूल और प्रतिच्छाया के बीच में अंतर तो रहेगा ही।"

"रहेगा ! लेकिन तुम्हारे मन का यही भ्रम है। जिसे तुम छलावा मानती हो वही एकमात्र सत्य है।[1] केवल तुम्हारे दृष्टिकोण का अंतर है। तुम आत्मा हो; चिरंतन और शाश्वत्। देह नाशवान् थी, वह नष्ट हो गई। लेकिन तुम तो नष्ट नहीं हुई। कल तुम फिर नया शरीर धारण करोगी; नया वस्त्र पहनोगी।"[2]

"लेकिन यह कब होगा, दादा? मैं तो अंतरिक्ष में भटकते–भटकते तंग आ चुकी हूँ।"

1- **नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।**
उभयोरवि द्रष्टोऽन्त स्तवनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।
(तत्त्वदर्शियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि असत् 'भौतिक शरीर' का कोई चिरस्थायित्व नहीं है किन्तु सत् 'आत्मा' अपरिवर्तित रहती है। भविष्य दृष्टाओं ने इन दोनों की प्रकृति का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है।)

2 - वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा,
न्यान्याति संयाति नवानि देही।। (श्रीमद्भगवत गीता अध्याय- 2, 22)
(जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर अन्यं नए वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा जीर्ण, पुराने शरीर को त्यागकर नवीन भौतिक शरीर धारण करता है।)

"इसका उत्तर मेरे पास नहीं है, मेरी बहिन ! उसने कहा है कि 'कर्म करो। उसके फल की आकांक्षा मत करो।'[1] इसे गीता में 'निष्काम कर्म' कहा गया है।"

उमा की मन की उद्विग्नता शान्त न हुई थी। उसने फिर प्रश्न किया–

"तो फिर उपाय क्या है?"

मैंने कहा,"इस संसार में जिसने भी जन्म लिया है, उसकी मृत्यु और पुनर्जन्म दोनों ही निश्चित हैं। प्रज्ञावान इस स्थिति से मुक्त होने के लिए 'मोक्ष' प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। उपाय एक ही है। उसने कहा है– समस्त धर्मो; मानवीय कर्मो का त्याग करके मेरी शरण में आ जाओ। मैं ही तुम्हारा 'योग–क्षेम' वहन करूँगा।" मैंने उमा की शंका का समाधान करने का प्रयत्न किया।

मैंने कहा–"संसार के प्रत्येक प्राणी में उसी का रूप तो बिम्बित है। उमा! आत्मदान से बड़ा और कोई दान नहीं है। उससे बड़ा मन का सुख भी और कोई नहीं है। एक बात पूछूँ, बहिन, तुम्हें कौन–सा मार्ग अधिक प्रिय है–ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्ग। हालाँकि दोनों ही मोक्ष के सोपान हैं?"

"निश्चित रूप से भक्तिमार्ग।" उमा बोली, "वहाँ मेरी गणना प्रेतों में नहीं है। जिस प्रकार संसार में भले और बुरे दोनों प्रकार के मनुष्य रहते हैं, उसी प्रकार वहाँ भी भली और दुष्ट आत्माएँ रहती हैं। शरीर त्याग करने पर भी उनकी मूल–प्रकृति वही रहती है। दुष्ट आत्माओं को मानवलोक में नहीं आने दिया जाता। वे अपनी दमित इच्छाओं की पूर्ति के लिए औरों को कष्ट देते हैं।

मैं उस लोक की अधिष्ठात्री के आश्रम की साधिका हूँ। वे मुझे अपनी पुत्री जैसा ही प्रेम करती हैं। उपासिका के रूप में मैं उनके मन्दिर की वाटिका के फूलों के पौधों में पानी देती हूँ। फूल चुनती हूँ। देवार्चन के लिए इष्टदेव की माला गूँथती हूँ। मध्याह्न में आश्रम की अधिष्ठात्री; माताजी नित्य पूजन के लिए शिव मन्दिर में आती हैं। उससे पहले मैं उनके उपासना के पात्र माँजती–धोती हूँ। उनकी पूजा की तैयारी करती हूँ। शाम को संध्या–वंदन के पश्चात् मैं ही सबको प्रसाद बाँटती हूँ।" उमा कहती जा रही थी।

"यह सब तो पुनीत कार्य है।" मैंने कहा,"लेकिन जो भी करो उसे प्रभु के प्रति समर्पण की भावना के साथ करो। पूरी निष्ठा के साथ करो। इससे तुम्हारे मन को एक आनन्द; एक आत्मिक शांति मिलेगी। एक बात और पूछूँ– काशी भगवान् विश्वनाथ की मोक्षदायिनी पुरी है। और संयोग से तुम्हारा यह बड़ा भाई भी यहीं है। मैं चाहता हूँ कि मैं तुम्हें कहीं न जाने दूँ लेकिन मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हें रोक पाना किसी पार्थिव मनुष्य के हाथ की बात नहीं है।"

1- श्रीमद्भगवत गीता, अध्याय 2, 47 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

"वहाँ का अनुशासन बहुत कठोर है, हरि दादा ! मैं माताजी की अनुमति लेकर ही एक निश्चित समय तक ही मानव–लोक में रह सकती हूँ।"

मैंने कहा,"चलो, यही सही। यहाँ आकर भगवान् विश्वनाथ और माँ अन्नपूर्णा के दर्शन करो। दशाश्वमेध घाट पर गंगा–स्नान करो। मानस–मन्दिर में बैठकर रामायण का पाठ करो। संकटमोचन हनुमान के दर्शन करो। संकटमोचन ही तुम्हारे सारे संकट दूर करेंगे।"

"माताजी मेरे ऊपर बड़ी कृपालु हैं। वे मेरा बहुत ध्यान रखती हैं। मैं उनसे कभी–कभी काशी आने की अनुमति ले लूँगी।" उमा बोली।

"इससे तुम्हारे जीवन की एकरसता कुछ तो दूर होगी। चित्त की उद्विग्नता नष्ट होगी और तुम्हारे मन को शान्ति मिलेगी।" मैंने कहा,"चलो घर चलें।"

उमा हँसी,"आते ही कल ही तो गई थी आपके फ्लैट पर। दरवाज़े पर एक बड़ा–सा ताला लगा था। उसने मुँह चिढ़ा दिया और मैं लौट आई। आपके पड़ोसी से पूछा तो वे बोले,'डॉक्टर पाण्डेय अकेले रहते हैं। विवाह तो उन्होंने किया ही नहीं। भोजन भी शायद किसी होस्टल की मैस में ही करते हैं। कभी–कभी नमस्कार हो जाती है। अध्ययनशील विद्वान हैं। रात में बहुत देर तक उनकी बत्ती जलते हुए देखता हूँ। स्वाध्याय चलता रहता है।' विनोदप्रिय उमा अपने सहज स्वभाव से कहती जा रही थी; और कविता की धारा उतरती जाती है। उन सज्जन ने मेरा परिचय पूछा तो मैंने उनको बतला दिया कि मैं आपकी छोटी बहन हूँ।"

"हाँ, रात को उन्होंने मेरे लौटने पर बतलाया तो था लेकिन मैं यह समझ ही न सका कि तुम यहाँ हो सकती हो। लेकिन तुम्हें यह कैसे मालूम हुआ कि मैं कविता भी करता हूँ?" मैंने पूछा।

"हाय रे ! उसी ने तो आपसे मेरी भेंट कराई। मैं परसों सबेरे ही भू–तल पर आई। सड़क पर जा रही थी तभी इलाहाबाद रेडियो स्टेशन से आपका काव्य–पाठ सुना। आपकी आवाज़ तो मैं पहले से ही पहचान गई थी। जब एनाउन्सर ने आपका नाम बोला तो निश्चय हो गया। उसी दिन मैं प्रयाग चली गई। सबेरे उठकर संगम गई, स्नान किया और माताजी के लिए यह गंगा–जल लेकर आ गई।" उमा ने अपने हाथ की गंगाजली दिखलाई। मुझे कुछ हँसी सी आ गई।

उमा बोली,"दादा, आप हँसे क्यों? हम लोग तो सूक्ष्म और भौतिक दोनों ही प्रकार के आकार ग्रहण कर सकते हैं।"

"यह बात नहीं। मुझे एक घटना स्मरण हो आई। चीन के महापर्यटक हुएनत्सांग ने उसे लिखा है। उन्होंने लिखा है कि संगम पर त्रिवेणी के तट पर

वट का एक बड़ा–सा पेड़ है। जिन लोगों पर बहुत ऋण हो जाता है और जिसे वे अपने कर्ज़दारों को लौटा नहीं पाते वे उस वृक्ष पर चढ़कर त्रिवेणी में कूद पड़ते हैं। उनकी ऋण–मुक्ति हो जाती है और गंगा में जल–समाधि लेने के कारण उनको मुक्ति भी मिल जाती है।''

मेरी बात सुनकर उमा ठठाकर हँस पड़ी। मैंने मन–ही–मन प्रभु को धन्यवाद दिया,''हे प्रभु ! तुम्हारी लीला अपार है। जो लड़की अभी कुछ देर पहले ही शोकार्त थी, रो रही थी, वह कैसी उन्मुक्त हँसी हँस रही है?''

उमा कहने लगी,''कल मैं सीधी इलाहाबाद रेडियो स्टेशन गई और ड्यूटी ऑफिसर से आपका पता लेकर वाराणसी लौट आई। फिर आपके फ्लैट पर गई। आप कॉलेज गए होंगे। वहाँ से आकर संकटमोचन के दर्शन किए। दिन भर यूनीवर्सिटी देखी फिर गाइकवाड़ लायब्रेरी देखकर विश्वनाथजी के नए मन्दिर में चली गई। बिड़ला परिवार की अक्षयकीर्ति का वह जीवंत साक्षी है। कैसे भव्य शिला–चित्र हैं? आँखें जुड़ा जाती हैं। मन को अपूर्व शांति मिलती है। मैं रात भर वहीं रही।''

''आपके पड़ोसी ने यह बतला दिया था कि आप रोज़ सबेरे टहलने जाते हैं। इसलिए आपकी खोज में मैं इधर आ गई। मैंने यह तो निश्चय कर ही लिया था कि आपसे मिलकर ही मैं वापस जाऊँगी।'' उमा ने कहा।

हम लोग काशी हिन्दू विश्व–विद्यालय के प्रवेश–द्वार तक आ गए थे। उसने हाथ जोड़कर श्रद्धा से मालवीयजी की मूर्ति को प्रणाम किया।

''तो रुकोगी नहीं? घर नहीं चलोगी?'' मैंने आग्रह करते हुए पूछा। ''आज नहीं दादा ! आज मुझे वहाँ पहुँच जाना चाहिए। लेकिन मैं जल्दी ही अगले मास में ही आऊँगी। वहाँ का अनुशासन बहुत कठोर है।'' उमा ने कहा।

मैंने कहा,''ठीक है, लेकिन चार–छः दिन की अनुमति लेकर आना। तुम्हें मेरे साथ मथुरा–वृन्दावन चलना है।'' मैंने सलाह दी।

उमा ने उत्साह से कहा,''मैं जानती थी कि आपके अलावा मुझे और कोई सँभाल न सकेगा। किसी का हृदय इतना उदार नहीं है। लगता है कि मेरे पूर्व–जन्म के पुण्य उदय हो रहे हैं। मैं देव–मन्दिर जाकर भगवान् के दर्शन करूँगी, 'यह तो मैंने सोचा भी न था। अच्छा हरि दादा ! प्रणाम !''

उमा मेरे साथ चलती जा रही थी। सहसा उसका शरीर धूमिल हुआ और फिर तिरोहित हो गया। सूक्ष्म शरीर धारण करके वह चली गई। मैं अकेला चला आया। ऐसा लगा कि एक आत्मीय भी मिला लेकिन वह भी इतनी जल्दी चला

गया। यों इस भेंट से मन भर गया था और उमा भी बहुत खुश थी।

मैं अपने कमरे में आकर कुर्सी पर बैठ गया। तभी मेरा मन मुझसे तर्क–वितर्क करने लगा।

"यह जानते हुए भी कि वह एक सामान्य मानवी नहीं, एक प्रेतात्मा है। उसके प्रति तुम्हारे मन में घृणा क्यों नहीं जागी? तुम्हें भय भी नहीं लगा। तुम तो उसके साथ जाने को तैयार ही थे। यह तो कहो कि उसी ने रोक दिया वह तो प्रेतनी है। तुमने अपना गला उसके हाथों में दे दिया। वह तुम्हारी गर्दन मरोड़ सकती थी। तुम्हारे शरीर का सारा रक्त पी सकती थी और तुम्हारे शरीर को चुसे गन्ने की भाँति फैंक सकती थी। फिर वह तुम्हारी सगी बहिन भी तो न थी।"

तभी अंतरात्मा से एक दृढ़ स्वर उठा,"चुप रह ! इसे क्यों बहकाता है। मैं ही इसके आगे परिस्थितियाँ रखता हूँ, संघर्ष रखता हूँ और मैं ही इसे उससे जूझने का मनोबल भी देता हूँ। इसने अपना सारा जीवन, अपने सारे कार्य मुझे अर्पित कर दिए हैं। इसका समग्र जीवन एक यज्ञ है। मैं ही इसका सम्पूर्ण 'योग–क्षेम' वहन करता हूँ। मेरे निकट इसके जीवन और मरण का कोई महत्त्व नहीं है। मैं केवल इसके जीवन की सार्थकता देखता हूँ। इसके जीवन की सार्थकता के लिए मैं निर्ममता से इसे प्रज्ज्वलित अग्निकुण्ड में भी फेंक सकता हूँ। दमकता निकल आवे तो शुद्ध सोना और यदि जल जाय तो सूखा पत्ता।" फिर ऐसा लगा कि कोई मुझसे कह रहा है–

"मैं ही सहस्रशीर्षा पुरुष हूँ। मैं ही विश्वरूप हूँ। मैं ही अखण्ड शक्ति का ज्योति-पुंज हूँ। ले, मुझसे जितना जी चाहे ले ले, लेकिन 'श्रेय' का पुण्य-पथ न त्याग। 'प्रेम' जीवन का आमोद-प्रमोद, क्षणिक सुख तेरे लिए नहीं है। तेरा पुनीत कर्त्तव्य तुझे पुकार रहा है। उठ और अपने हाथों से दूसरों की आँखों के आँसू पोंछ।"

मेरे चित्त का उद्वेग शान्त हो गया। मेरा कर्त्तव्य; मेरा धर्म मुझे मिल गया था।

"स्वधर्मे निधनं श्रेय, परधर्मो भयावहः।"

मेरे पास रसोई और टॉयलेट के अलावा दो कमरे हैं। आगे का कुछ बड़ा है और पीछे का उससे छोटा। मैंने मकान–मालिक से न कहकर स्वयं ही दोनों कमरों में 'डिस्टेम्पर' करा दिया। कमरे चमकने लगे। मैंने धूप और अगरबत्तियाँ जलाकर उनको पवित्र किया। फिर छोटे कमरे में एक तख्त डालकर मैंने ऊपर एक गद्दा बिछा दिया। उसके ऊपर एक सफ़ेद चादर डाल दी और उस पर गाव–तकिया रख दिया। मैं बाज़ार से लकड़ी का एक सुन्दर, छोटा–सा मन्दिर

ले आया। मेरे पास मुरलीधर कृष्ण की एक अत्यंत कला–पूर्ण कृति है, जिसे मैं लखनऊ की एक कला–प्रदर्शनी से खरीद लाया था। यह शायद श्रीधर महापात्र या किसी अन्य शिल्पी की नयनाभिराम काष्ठ–प्रतिमा है; त्रिभंगी, दोनों हाथ वंशीवादन की मुद्रा में, ओठों पर भुवन–मोहिनी मुस्कान, गले में बैजयंती माला और सिर पर मोर पुच्छ का मुकुट ! अद्‌भुत प्रतिमा है यह, जो भी देखता है, बस एकटक देखता ही रह जाता है। मैंने उसके पास काँच के छोटे–छोटे ज़ारों में भोग के लिए थोड़ी–सी मिश्री और किसमिशें रख दीं। निकट ही तिपाई पर गंगाजल से भरा ताम्र–पात्र रख दिया। इस प्रकार कमरे ने एक छोटे से मन्दिर का रूप ले लिया। मैं चौक से एक अटैची ले आया और उसमें उमा के नए वस्त्र; दो सादी सिल्क की साड़ियाँ, तौलिया आदि रख दिए। छोटी–सी मेज पर अपना टेप–रिकॉर्डर और उसके पास पंकज मलिक और सुब्बालक्ष्मी के भक्ति संगीत के थोड़े–से कैसेट रख दिए। इस नई सजावट से पीछे का छोटा कमरा खिला उठा। दीवाल पर नन्दलाल बसु का अर्जुन का रथ हाँकते कृष्ण का चित्र टाँग दिया। मेरी तैयारी ऐसी थी मानो मेरे यहाँ कोई विशिष्ट अतिथि आ रहा हो। उमा अतिथि तो थी ही। उसके आने की कोई तिथि; कोई तारीख निश्चित न थी। मुझे केवल यह ध्यान था कि उमा अपने को किसी प्रकार से उपेक्षित अनुभव न करे। वह यह न सोचे कि दुर्दिन में उसे अपने बड़े भाई से भी सम्मानपूर्ण व्यवहार नहीं मिला। कुछ भी हो, मेरा आवास उसका मायका ही तो है।

हालाँकि खाना मैं बाहर बिड़ला होस्टल की एक मैस में खाता था लेकिन सबेरे का नाश्ता घर पर ही तैयार कर लेता था। रसोईघर में अम्मा के दिए हुए सारे बर्तन थे। स्टेनलैस स्टील के कुछ बर्तन मैं शहर से खरीद लाया था। न जाने उमा कब आ जाय। रसोईघर के सारे डिब्बों को मैंने सामान से भर दिया।

उमा को गए सवा महीने से भी अधिक बीत गया। शायद वहाँ के अनुशासन ने उसे मनुष्य–लोक में आने की अनुमति न दी। मैं सबेरे टहलने जाता तो पूजा के लिए थोड़े से फूल ले आता। स्नान के पश्चात् मैं गीले कपड़े को निचोड़कर उससे वंशीधर कृष्ण की काष्ठ–प्रतिमा को पोंछ देता। बाद में उसके ऊपर सूखा कपड़ा फेर देता। प्रतिमा दमकने लगती। फिर मैं धूप–बत्तियाँ ज़लाकर पूजा करता। श्रीकृष्ण का 'हित हरिवंश का' स्तवन पढ़ता। मैं धार्मिक या सांस्कृतिक साहित्य को उसके बाद आधा घंटा तो नियमित रूप से पढ़ता ही था। इस निश्चित समय में ही मैंने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि', भगवान् बुद्ध के प्रवचनों का संकलन 'धम्मपद', कबीर के पद और खलील जिब्रान का 'प्रोफेट' पूरा कर

लिया था। मैं इन दिनों डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का महाभारत का सांस्कृतिक अध्ययन 'भारत–सावित्री' पढ़ रहा था। इस साहित्य से मेरे मन को एक अनिर्वचनीय शांति और शक्ति मिलती थी। ज्ञान तो प्राप्त होता ही था। यह एक बड़ी उपलब्धि थी। इस स्वाध्याय के पश्चात् मैं अपने क्लास की तैयारी में लग जाता था। यही कारण था कि छात्र मेरे अध्यापन से संतुष्ट थे। मैं उनके प्रश्नों और जिज्ञासाओं का समाधान भी कर सकता था।

भोजन मैं अपने छात्रों की मैस में ही बिड़ला होस्टल में करता था। वे सब मेरा और मेरी रुचियों का ध्यान रखते थे। महीने में जो भी खर्च पड़ता, उसमें रसोइए और कहार का वेतन जुड़ जाता था। खाना तो वे मैस में खाते ही थे। सब मैसों का यही नियम था।

उस दिन मैं पूजा से निवृत्त होकर 'भारत–सावित्री' देख रहा था, तभी दरवाजे की घंटी बजी। मैंने उठकर दरवाजा खोला तो कंधे पर थैला लटकाए, मुस्कराती हुई उमा खड़ी थी। बोली,"दादा ! मैं आ गई।"

"बहुत अच्छा किया बेटी, लेकिन बहुत दिन लगा दिए।" मैंने कहा।

वह बोली,"मैं क्या करती? माताजी की सेवा में उर्मि रहती है। बड़ी अच्छी लड़की है। मुझे तो अपनी बहन ही मानती है। घरवालों ने दहेज के लोभ में जला दिया और कह दिया कि स्टोव से आग लग गई। दादा, स्टोव को बहू और बेटी की बड़ी गहरी पहचान होती है। जलती बहू ही है। वह माताजी की अनुमति लेकर मनुष्य–लोक आ गई थी। जब वह लौटकर आ गई, तब मुझे यहाँ आने की अनुमति मिली।"

कुछ देर तक वह सामने की कुर्सी पर बैठी रही; मानो थक गई हो और आराम कर रही हो। कुछ देर बाद बोली,"हरि दादा ! मैं आपके लिए एक प्याला चाय बना लाऊँ?"

मैंने कहा,"मैं तो बहुत तड़के ही अपनी चाय बना लेता हूँ, टहलने जाने से पहले। तुम अपने लिए चाय बना लो। आधा प्याला मेरे लिए भी बना लेना।"

"मैं तो चाय पीती नहीं। वहाँ जाकर आदत छूट गई है। मैं स्नान करके पूजा करूँगी। फिर नाश्ता तैयार करूँगी।" उमा ने कहा। मैंने उसे पूजा की विधि समझा दी। काष्ठ–प्रतिमा पानी से नहलाई नहीं जाती। उससे काठ फूल जाता है। उसे बस गीले कपड़े से पोंछ देते हैं।

वह नहाकर पूजा करने के लिए जब छोटे कमरे में गई तो बहुत खुश थी। बोली,"दादा ! आपने तो मेरा कमरा देव–मन्दिर ही बना दिया। फिर आपने मेरी

छोटी–से–छोटी ज़रूरत का कितना ध्यान रक्खा?"

उमा ने अपनी सफ़ेद साड़ी सर्फ से धोकर अरगनी पर डाल दी थी और अटैची में से सिल्क की साड़ी निकालकर पहन ली थी। उसने उबलने के लिए आलू स्टोव पर रख दिए। मैस में खाना खाने के कारण मुझे गैस के चूल्हे की ज़रूरत न थी। हमने नींबू के आचार के साथ आलू की कचौड़ियों का नाश्ता किया। वह हम दोनों को ही अच्छा लगा। मुझे काफ़ी दिनों के पश्चात् किसी आत्मीय के साथ नाश्ता करने का अवसर मिला था और उमा के लिए तो यह प्रश्न ही न उठता था। उसके बाद मैं अपनी क्लास की तैयारी में लग गया और वह रसोईघर में खाना बनाने लगी। साढ़े दस बजे तक मेरा भोजन तैयार था।

"और बहिन तुम?" मेरे पूछने पर वह बोली,"मैं तो बारह, साढ़े बारह बजे से पहले कभी खाती नहीं।"

मैंने जाने के लिए स्कूटर उठाया तो वह मुझे छोड़ने बाहर गेट तक आई। उसका व्यवहार अत्यंत आत्मीय व शालीन था। वह मुझे अग्रज का सम्मान दे रही थी। मैं शाम को कॉलेज से लौटा तो उसने मुझे चाय और बिस्कुटें दीं। उसने केवल थोड़े से फल ले लिए जो मैं लौटते हुए लंका की एक दूकान से ले आया था। शाम को हम लोग गुदौलिया गए। हमने दशाश्वमेध घाट पर जाकर कुछ देर तक संतों के प्रवचन सुने। मेरे आग्रह करने पर भी उसने बाहर कुछ नहीं खाया। उसने बाज़ार से कुछ खरीदा भी नहीं। "क्यों पैसे बिगाड़ते हो दादा, मैं यहाँ से कुछ भी लेकर नहीं जाऊँगी। पिछली बार भी मैं केवल विश्वनाथजी का प्रसाद लेकर गई थी। गंगाजल मैं संगम से ही ले आई थी। माताजी को प्रसाद दिया तो बोलीं, तू ही भोग लगाकर सबको बाँट दे।"

"दादा, उस दिव्यमूर्ति के दर्शन करके आँखें जुड़ा जाती हैं। सिर के सारे केश बर्फ जैसे सफ़ेद हैं, केवल मुख आभामय है।"

मेरे लिए उमा का एक–एक दिन अति मूल्यवान था। मैंने उमा से कहा,"मथुरा का कल का रिज़र्वेशन मिल गया है। कैन्ट स्टेशन यहाँ से काफ़ी दूर पड़ता है। हम ऑटो से कुछ जल्दी निकल चलेंगे।"

"ठीक है। मैं पाँच बजे तक सब तैयारी कर लूँगी। आपके आते ही हम लोग चल देंगे।" उमा ने कहा।

रात को उमा कुछ खाती नहीं लेकिन मैंने ज़िद करके उसे थोड़ी–सी मिठाई, दो केले और दूध दे दिया।

रात को मैं देर तक पढ़ता रहा। उसने मेरी अलमारी में से श्री रोहित मेहता

की 'प्रज्ञा के पथ पर' पुस्तक निकाल ली। वह गीता का ही एक विवेचन था। जब तक मैं पढ़ता रहा, वह भी बड़े ध्यान से पढ़ती रही। बोली,"पुस्तक गम्भीर है लेकिन बहुत अच्छी है। मन रम जाता है।" फिर हम लोग हल्के नीले बल्ब जलाकर अपने-अपने कमरे में सो गए।

उमा दूसरे दिन सबेरे ही उठ बैठी। नित्यक्रिया से निवृत्त होकर उसने मुझे चाय बनाकर दी। मैं रोज़ की भाँति टहलने चला गया। उसने दोनों कमरों को झाड़ू लेकर साफ़ किया। उनमें पोंछा लगाया और फिर नहाने चली गई। स्नान और पूजा के पश्चात् उसने कल की भाँति ही नाश्ता बनाया, फिर खाया। उस दिन भी मैं भोजन करने मैस में नहीं गया। शाम को जब मैं कॉलेज से लौटा, तब तक उमा अपनी पूरी तैयारी कर चुकी थी। उसने सूखे साग बना लिए थे और पूड़ियाँ सेंक ली थीं। हम लोग ठीक समय पर वाराणसी कैण्ट पहुँच गए। रिज़र्वेशन के टिकट थे ही।

दूसरे दिन बहुत अँधेरे हम मथुरा जंक्शन पहुँच गए। स्टेशन पर कुछ देर प्रतीक्षा करने के पश्चात् हम लोग शहर पहुँच गए। विश्रामघाट पर यमुना में स्नान करके पट खुलने पर हम लोगों ने द्वारिकाधीश के मंदिर में जाकर उनके दर्शन किए। उमा भाव-विह्वल थी। भोग-प्रसाद लेकर हम लोग बाहर आ गए। इस बीच दस बज गए। उसके बाद हम लोग रिक्शा करके डैम्पियर पार्क पहुँचे। मथुरा म्युजियम खुल चुका था। उमा संग्रहालय की उस खड़ी हुई बुद्ध-प्रतिमा को देर तक देखती रही, जिसमें वे अपने चीवर का एक छोर पकड़े खड़े हैं। फिर बोली,"कैसी अद्भुत कला-कृति है। झीने आवरण में भगवान् बुद्ध के अंग झलक रहे हैं। दादा ! इसे गढ़ते समय शिल्पी के हाथ की छेनी तनिक सी हिल जाती तो क्या इसके मुख की यह दिव्यश्री, यह भावमयता रह पाती? इसके पीछे का अलंकृत कमल तो देखिए, कमाल है।"

मैंने कहा,"यह भारतीय कला की गुप्तकाल की कृति है। उसकी सारी विशेषताएँ इसमें बिम्बित हुई हैं।" मथुरा संग्रहालय देखकर हम लोग वृन्दावन चले आए। वहाँ पहुँच कर मैंने रमण रेती के पास एक लॉज में दो कमरों का फ्लैट ले लिया। शाम को उमा तो कुछ खाती ही न थी। मैं ज़िद करके उसे कुछ मिठाई और दूध दे देता था। अकेले खाना मुझे अच्छा न लगता था, इसलिए उस दिन शाम को उसके साथ वही ले लिया, हालाँकि वह बहुत आग्रह करती रही।

अगले दिन जब मैं सोकर उठा तो उमा स्नान कर चुकी थी और सूखने के लिए अपनी साड़ी डाल रही थी। वह पंकज मलिक का एक गीत गुनगुना रही

थी–**"तेरे मन्दिर का दिया हूँ, जल रहा।......"**

मैं समझ गया कि यह ब्रज–भूमि का प्रभाव है। मेरा घर और उमा का पैतृक घर ब्रज–भूमि में ही पड़ता है। हम लोगों के घरों में भी ब्रजभाषा ही बोली जाती है। मैंने लक्ष्य किया कि उमा के चेहरे का पहले वाला म्लान–भाव हटता जा रहा है। और उसकी जगह भक्ति–जनित आनन्द खेलने लगा है। मेरा उद्देश्य भी यही था। मैं उसके अभिशप्त जीवन की अवधि तो कम न कर सकता था लेकिन यह चाहता था कि वह अपने को दुःखी अनुभव न करे। मुझे लगा कि मैं अपने उद्देश्य में आंशिक रूप से ही सही, सफल होता जा रहा हूँ।

हम लोग स्नान कर ही चुके थे। मेरी चाय होटल का बैरा दे गया था। उमा तो चाय पीती ही नहीं। दोपहर को हम लोगों ने वृन्दावन–बिहारी के मन्दिर में जाकर उनके दर्शन किए। पचास रुपए चढ़ाकर मैंने वहाँ के भोग की पत्तल ले ली। वह हम दोनों भाई–बहिन के लिए काफ़ी थी। प्रसाद ग्रहण करने के पश्चात् हम रंगजी का मन्दिर देखने गए। वह दक्षिण की द्रविड़ शैली का एक विष्णु–मन्दिर है। मैंने उमा से कहा,"श्री रंग" भगवान् विष्णु का ही एक नाम है। तुमने रामायण में पढ़ा होगा, **"बार-बार वर माँगहूँ, हरखि देउ श्रीरंग।"**

दक्षिण भारत में एक बड़ा नगर श्रीरंगपट्टनम् भी है। वह अपने कला–पूर्ण मन्दिरों के लिए प्रख्यात है।

श्री रंगजी के मन्दिर के प्रांगण में एक स्वर्ण–मंडित स्तम्भ खड़ा था। हम लोगों ने वृन्दावन में गोविन्दजी का वह ऐतिहासिक मन्दिर भी देखा ज़ो मध्य युग का एक भव्य स्मारक है। उस दिन शाम को हम पैदल ही घूमने निकल गए। एक जगह रासलीला चल रही थी। उसे कुछ देर देखने के बाद हम लॉज में लौट आए।

दूसरे दिन निधि–वन देखकर हम लोग वृन्दावन से मथुरा लौट आए। मथुरा पहुँचकर उमा बोली,"दादा ! कल दर्शनों से मन नहीं भरा। चलो, चलने से पहले द्वारकाधीशजी के एक बार और दर्शन कर लें।"

सबेरे का समय था। प्रभाती चल रही थी। गायक भक्ति–विभोर होकर अष्टछाप के ब्रज–भाषा के कवियों के पद गा रहे थे। बड़ा–ही मोहक संगीत था। मैंने उमा से कहा,"बहिन इसे 'हवेली–संगीत' कहा जाता है। मन्दिरों के अलावा यह और कहीं नहीं गाया जाता।" कुछ देर बाद भगवान् श्रीकृष्ण की भव्य मूर्ति के दर्शन करके और संगीत सुनकर हम बाहर निकल आए।

मन्दिर से बाहर आकर हम लोग विश्रामघाट की एक मिठाई की दूकान पर गए। वहाँ से हम लोगों ने पेड़े और थोड़ी खुरचन ली। मथुरा के पेड़ें का स्वाद

कुछ अलग ही, सौंधापन लिए होता है। उसमें खोए को इतना भूना जाता है कि वह लाल हो जाता है। उसके बाद मैंने दूकानदार से उसके यहाँ के सबसे अच्छे, अधिक खोए और इलायची वाले, एक किलो पेड़े तौलने को कहा। दाम चुकाकर मैंने उस डिब्बे को उमा के कंधे के थैले में डाल दिया और कहा,"यह मेरी ओर से माताजी को भेंट कर देना। सन्ध्या–वन्दन के बाद यह साधिकाओं में बँट जायेंगे।"

उमा बोली,"दादा ! आपको मेरा ही नहीं, मेरी प्रतिष्ठा का भी कितना ध्यान रहता है?"

मैंने कहा,"तुम मेरी इकलौती बहन हो। लेकिन यह तो मैं भेज रहा हूँ। इसमें तुम्हारी प्रतिष्ठा कहाँ से आ गई?" उमा मुस्करा दी।

हमारी ट्रेन दोपहर में साढ़े ग्यारह बजे थी। दोनों ओर का रिजर्वेशन था इसलिए चिन्ता की कोई बात न थी। रास्ते में मेरी इच्छा उसे आगरा में ताज दिखलाने की भी थी लेकिन उसने कहा कि मैं ताज और क़िला दोनों देख चुकी हूँ। वाराणसी का सीधा रिजर्वेशन है। रात तक तो वाराणसी ही पहुँचेंगे। परसों तो मुझे हर हालत में भू–तल छोड़ देना है। दूसरे दिन रविवार था। मुझे विश्व–विद्यालय नहीं जाना है। हम लोग जब भोजन से निवृत्त हो लिए तब मैंने उमा से कहा,"उमा ! मेरे मन में तुम्हारी माताजी के बारे में जानने की अधिक उत्कंठा है।"

उमा बोली,"इसके लिए मुझे आपको पहले की भी घटनाएँ सुनानी होंगी। मेरे विवाह में आप तो थे ही, प्रेमशंकर और चाचीजी भी गई थीं। द्वाराचार बड़े गाजे–बाजे से हुआ। खूब आतिशबाजी चली। पिताजी ने शहर से बैण्ड बुलवाया था। आप भी तो बन्दूक से हवाई फायर कर रहे थे। लेकिन अगवानी के बाद जब बारात को खाने के लिए बुलावा गया तो कोई नहीं आया। कई बार नाई गया और फिर पुरोहित; लेकिन एक चुप्पी सधी रही। अंत में मेरे पिताजी को ही जाना पड़ा। दूल्हा रूठा बैठा था। वह बोला,'जो कुछ भी तय हुआ था, मुझे दरवाजे पर ही मिलना चाहिए। मेरे साथ धोखा हुआ है। आप पूरी रक़म लेकर आइए वरना न बारात खाना खाने जाएगी और न भाँवरें ही पड़ेंगी।' सबेरे बारात लौट जायगी। जब दोनों पक्षों के बड़े–बूढ़ों ने वर को समझाया–बुझाया तब बारात खाना खाने घर आई। उस समय रात के दो बजे थे। प्रेमशंकर को तो मैंने रिश्तेदारों के बच्चों के साथ खिला–पिलाकर सुला दिया था लेकिन सबेरे सुना कि आपने उस रात को कुछ भी नहीं खाया, भूखे ही रह गए और बारात विदा होने के पहले ही शहर

चले आए। चाची और प्रेमशंकर मेरी विदा के बाद गए।"

"तुम ठीक कहती हो उमा, मेरा मन बहुत खराब हो गया था। खाने की इच्छा ही न हुई। फिर रात के दो बज चुके थे। मुझे लगा कि हम लोग दहेज के लोभियों के पंजों में फँस गए हैं। हम लोगों के यहाँ दहेज तो नहीं चलता लेकिन अनुमान कर लिया जाता है कि हमें क्या मिलेगा? यह स्थिति भी कोई बहुत अच्छी नहीं है। लेकिन किसी में यह साहस नहीं होता कि वह नई बहू का अपमान कर सके। तुम्हारे द्वाराचार के बाद जब दूल्हे ने दहेज के लिए नख़रे दिखलाये और बारात खाना खाने न आई तो बड़ी झुँझलाहट हुई लेकिन मैं विवश था।" मैंने कहा।

"आपका यह ख़्याल ठीक ही था कि हम दहेज लोभियों के जाल में फँस गए हैं। पिताजी ने बहुत देखभाल कर मेरा विवाह निश्चित किया था। नहर के किनारे एक सौ पचास बीघे ज़मीन थी। आमों का बड़ा–सा बाग था। मेरी ससुराल में मेरे पति और सास के अलावा और कोई न था। लेकिन पिताजी को यह नहीं मालूम था कि उनके दामाद साहब को शराब पीने की लत लग चुकी है। ब्याह के बाद मैंने देखा कि वे बाहर से विलायती शराब मँगाते हैं और अपने गाँव के दोस्तों के साथ पीते हैं। कभी–कभी अकेले ही रात को देर तक जागते और शराब पीते रहते। जब वे सोने लिए आते तब उनके मुँह से शराब की बदबू छूटती। वे 'चेन स्मोकर' भी थे। मैं परेशान, रुआँसी हो जाती थी। यह तो आप भी जानते हैं कि मेरे पिताजी ने वृन्दावन में कंठी ली थी। हम लोगों के यहाँ भी आपके घर की भाँति ही प्याज और लहसन वर्जित था।"

"मेरे पति अपने को रईस समझते थे और मेरे घर वालों को कभी इज़्ज़त या कोई महत्त्व न देते थे। मैं उनको शराब न पीने के लिए बहुतेरा समझाती लेकिन वे मेरी एक भी बात न सुनते। मेरे प्रति उनका स्वभाव दिनोंदिन सख़्त और कड़ुवा होता जा रहा था। शहर जाते तो कई–कई दिनों तक वापस न लौटते। पूछती तो झल्ला उठते। कहते,'मैं कहीं भी जाऊँ? तुझे क्या लेना–देना है?'

मैंने यह उपेक्षा कभी सही न थी। हरि दादा ! आप तो जानते ही हैं कि घर पर सब लोग मुझे कितना आदर और स्नेह देते हैं। चार साल आपके यहाँ रहकर पढ़ी। सबने मुझे घर की अकेली लड़की की तरह आत्मीयता दी। प्रेमशंकर तो मुझे अपना सगा भाई लगता है। आपने मुझे हमेशा अपनी सगी छोटी बहिन समझा। उपेक्षा और अपमान के घूँट पीकर मैंने तींन साल काट दिए। सास अपने नाती का मुँह देखने को बेचैन थीं। वे मुझे 'बाँझ' कहकर ताने देती थीं। वे लोग मुझे

घर भी न भेजते थे। छोटा भाई किसी को साथ लेकर आता लेकिन हर बार लौटा दिया जाता।

पिताजी बीमार चल रहे थे। एक दिन मैंने घर जाने के लिए कहा तो बोले,'जा, जरूर जा लेकिन बाप से अच्छी खासी रक़म लिए बिना मत लौटना।'

कहाँ से लाऊँगी मैं अच्छी खासी रक़म? घर में कमाने वाला है कौन? पिताजी बूढ़े हैं और आए दिन बीमार ही रहते हैं। भाई बहुत छोटा है।''

वे बोले,''आख़िर सब उस लड़के को ही तो देना है। कुछ लड़की, दामाद को भी दे दें। इतनी काश्त है। बाग़ है।''

''मैं कहना तो यह चाहती थी कि आपके पास भी काश्त है। बाग़ है। लेकिन मैं चुप रही।'' केवल इतना कहा,''आप तो मेरे पिताजी और भाई को भिखारी बनाकर सड़क पर खड़ा कर देना चाहते हैं।''

वे एकदम भड़क उठे,''हरामज़ादी, कँगले की बेटी, ज़बान लड़ाती है। तीन साल से ठल्ल गाय को अच्छा खिला–पिला रहा हूँ। तेरे बाप का मुझ पर कर्ज़ है क्या?''

मैं पिताजी का यह अपमान न सह सकी। मैंने कहा,''ठाकुर ! मेरे पिताजी को गाली मत दो। चौहानों की बेटियाँ किसी की गाली नहीं सहतीं। भले ही वह उनका पति हो।''

उन्होंने तैश में कहा,''जा चली जा। कौन रोकता है तुझे?''

वे असल में दूसरी शादी करना चाहते थे। सास नाती का मुँह देखना चाहती थीं। वे तो यही चाहते थे कि मैं अपने–आप उनके घर से चली जाऊँ। और उनका मुँह उजला बना रहे। मैंने फिर मुड़कर उनकी ओर नहीं देखा। मैं अपने उन्हीं कपड़ों में गई और कमरे से अपनी अटैची उठाकर चल दी। मुझे उन्होंने या सास ने नहीं रोका। मैं गाँव के बाहर सड़क पर आ गई। कुछ देर में बस आ गई। उस पर मैं अपने गाँव आ गई। पिताजी बीमार चल रहे थे। उन्हें यह सब बतलाना मुझे उचित न लगा।

''आने वाली आँधी का मुझे अन्दाज़ हो गया था। मैं समझ चुकी थी कि यह लोग अब वहाँ मुझे टिकने नहीं देंगे। मैंने अपने गहने और दो कीमती बनारसी साड़ियाँ निकालकर अपनी अटैची में रख ली थी। दूसरे दिन जब उन्होंने मेरा बक्स खोलकर देखा तो हाथों के तोते उड़ गए। तीसरे दिन वे मेरे घर आए। पिताजी समझे कि बेटी–दामाद में किसी बात पर कहा–सुनी हो गई है और मैं रूठकर घर आई हूँ।'' उनसे बोले,''चली जायगी। बहुत दिन के बाद तो अपने घर

आई है।" उन्होंने कुछ जबाव नहीं दिया। वे जब मुझसे मिले तो बोले,"तू गहने और साड़ियाँ भी ले आई, चोट्टी?"

मैंने कहा,"मैंने आपके घर से कोई चोरी नहीं की है। मैं आपके घर से चाँदी का एक छल्ला भी लेकर नहीं आई। जब मैं आपके यहाँ नहीं रह सकती तो मेरे गहने और कपड़े ही वहाँ क्यों रहेंगे?"

वे तमक कर बोले,"तूने मेरा अपमान किया है। मैं इसका बदला लिए बिना न छोड़ूँगा।"

पिताजी के कहने–सुनने पर भी उन्होंने मेरे घर पर अन्न ग्रहण नहीं किया और चले गए। उनके जाने के बाद मैंने पिताजी को सारा हाल सुना दिया और अपने गहनों को शहर के बैंक में लॉकर में रखवा दिया।

गाँव के लोगों ने सलाह दी कि उन पर खर्च–पानी के लिए मुकदमा दायर कर दिया जाय। आख़िर व्याहता पत्नी है। उसका भी ज़मीन जायदाद पर कुछ हक़ बनता है। लेकिन मुझे अर्जी अदालत करना शोभनीय न लगा। मैं गाँव में एक प्रायमरी स्कूल में पढ़ाने लगी। पैसों का तो आकर्षण न था लेकिन समय कट जाता था। लेकिन उन्होंने तीन महीने के भीतर ही मुझसे बदला ले लिया।

"मेरा स्कूल गाँव के बाहर उससे कुछ दूर था। सर्दियों के दिन थे। अँधेरा जल्दी घिर जाता था। एक दिन शाम को मैं अकेली घर लौट रही थी। बच्चों की फीस जमा करने में मुझे कुछ देर लग गई थी। तभी देखा कि नाले के पास चार–पाँच आदमी खड़े हैं। वे कपड़े से अपने मुँह ढँके थे। मुझे देखकर वे पेड़ों की आड़ में हो गए। मुझे ख़तरे का आभास हो गया और मैं तेजी से पीछे की ओर दौड़ी। तभी उनमें से एक आदमी दौड़ता हुआ आया और उसने मुझे ज़ोर का धक्का दिया। मैं गिर पड़ी। वह आदमी मेरी छाती पर चढ़कर बैठ गया। उसने एक हाथ से मेरा मुँह बन्द कर दिया। दूसरे हाथ से उसने मेरे गले में पड़ी सोने की जंजीर खींच ली। तब तक उसके और साथी भी दौड़कर वहाँ आ गए। उन्होंने मेरे हाथ–पैर पकड़ लिए। अब न मैं हिल सकती थी और न चिल्ला ही सकती थी। जंजीर उतारते समय उस आदमी के चेहरे का कपड़ा कुछ हट गया था। मैंने उसे पहचान लिया। वे मेरे पति थे। फिर मेरे पति मेरी छाती पर से उतर आए। दूसरे आदमी ने मेरे मुँह को हाथ से बन्द रक्खा। मेरे पति ने अपने एक हाथ से गंडासा लेकर मेरी गर्दन पर ज़ोर से वार किया। गर्दन एक ही बार में कटकर गिर पड़ी। मेरे गले से खून का फब्बारा छूटने लगा। मैं बेहोश हो गई।"

उमा कहते–कहते रुक गई,"अरे दादा ! आप तो रो रहे हैं? अब मैं आगे कुछ

न कहूँगी।" मैं अपने को रोक न पाया था और मेरी आँखों से आँसू बह चले थे।

मैंने कहा,"उमा ! मैं अपने अपराध का प्रायश्चित भी नहीं कर सकता। मैं यही समझता रहा कि उमा ठीक होगी। खुश होगी। मैं तुम्हारे परिवार की ओर से उदासीन तो नहीं हुआ लेकिन वाराणसी आ जाने के कारण उससे मेरा सम्पर्क टूट गया। एक–दो बार अपने घर भी गया लेकिन तुम्हारी निर्मम हत्या का समाचार किसी ने नहीं दिया।"

"दुःख तो यही है कि समाज की दृष्टि में मेरा आपसे रक्त–सम्बन्ध नहीं है। यदि आप मुझमें दिलचस्पी लेते तो उन लोगों को मुझ पर और आप पर कीचड़ उछालते क्या देर लगती?" उमा ने कहा।

मैंने अपनी आँखों के आँसू पोंछ डाले थे।

दूसरे दिन मुझसे विदा लेकर उमा अपने लोक में चली गई। मथुरा–वृन्दावन यात्रा से वह बहुत प्रसन्न थी।

मेरी पराविद्या में रुचि बढ़ने लगी। विश्व–विद्यालय की गायकवाड़ लायब्रेरी में पराविद्या विषयक अधिक पुस्तकें नहीं मिलीं। विदेशी लेखकों के ग्रन्थों में आत्माओं को बुलाने और प्लानचेट के माध्यम से उनके आने की चर्चा की गई थी। थियोफिस्टी के साहित्य में भी 'मारटर्स' (दैवी आत्माओं) के उल्लेख थे लेकिन इस मानवेत्तर जीवन को कैसे समाप्त किया जाय इसका कोई विधान न था। हिन्दू पुराणों में पूर्वजों के श्राद्ध और गया जाकर उनका पिण्डदान करने का विधान था। उसके बाद यह माना है कि पूर्वजों को मुक्ति मिल गई है। उसके पश्चात् उनका श्राद्ध नहीं किया जाता। लेकिन उमा तो मेरे पूर्वजों में नहीं है। सोचा कि लाभ नहीं तो हानि ही क्या है? वाराणसी से मैं एक दिन गया गया और उमा के निमित्त पूरे कर्मकाण्ड के साथ पिण्डदान कर आया।

मैंने सोचा कि उमा का यह मानवेत्तर जीवन तो मैं खत्म नहीं कर सकता किन्तु धार्मिक संस्थानों की यात्रा कराकर उसके मन के विषाद को तो मैं कम कर ही सकता हूँ। मेरी मथुरा–वृन्दावन यात्रा का परिणाम अच्छा रहा था। उसने मुझे हिम्मत दी।

मैं प्रतिवर्ष गर्मियों की छुट्टियों में घर जाता था। माँ मेरी प्रतीक्षा करती थीं। प्रेमशंकर और उसकी पत्नी मेरे प्रत्येक सुविधा का ध्यान रखते। उनका छोटा–सा बच्चा तो मुझे छोड़ता ही न था। प्रेमशंकर की नौकरी अच्छी थी फिर भी उसे तथा माँ को कुछ–न–कुछ भेजता ही रहता था। गर्मियों की छुट्टियों में जाता तो कपड़े ले जाता। दशहरा, दिवाली पर उमा आ जाती थी।

एक बार उमा मेरे साथ नाथद्वारा गई। सबसे पहले हम लोग चित्तौड़ पहुँचे। वहाँ उसने प्राचीन भवन और जय–स्तम्भ देखा। लेकिन मीरा के मन्दिर में जाकर उमा भाव–विह्वल हो उठी। वह गाने लगी।–

''प्रभु, मनें चाकर राखो जी।''

मैंने कहा,''वह तो तुम हो ही। बेटी, तुम बहुत अच्छा गा लेती हो।'' वह कुछ उत्साहित होकर बोली,''आपकी कई कविताएँ मुझे कंठस्थ हैं। मैं उनको स्वर–लिपि भी दे सकती हूँ।''

फिर कुछ दुःखी होकर बोली,**''अपने यहाँ गाँवों में कितने प्रतिभा-सम्पन्न लड़के-लड़कियाँ हैं। लेकिन फूल जंगल में खिलता है और मुरझा जाता है। किसे फुरसत है उनकी ओर देखने की, उनकी प्रतिभा को प्रोत्साहित करने की। सबकी दृष्टि कुर्सी पर टिकी है। सबको सत्ता सुख चाहिए।''**

मैंने सोचा कि उमा ठीक ही तो कहती है। सबको अपने स्वार्थ की चिंता है। देश और देशभक्ति समाप्त हो गई। रह गई पार्टी, जो उन्हें टिकट देती है। चुनाव लड़ाती है। देश की पार्टियाँ आपस में लड़ने के लिए 'रण–नीति' तैयार करती हैं– देश का दुर्भाग्य !

मेरा मन भी खिन्न हो गया। विचार–धारा का अंतर तो समझ में आता है, लेकिन स्वार्थो की यह टकराहट नहीं। रातोंरात सांसद अपने स्वार्थ पूरे न होते देखकर दूसरी पार्टियों में चले जाते हैं।

चित्तौड़ के बाद हम लोग नाथद्वारा गए। कला बिखरी पड़ी थी। उमा को राधा–कृष्ण की एक आधुनिक पेन्टिंग पसन्द आई। बोली,''मैं इसे अपने कमरे में लगाऊँगी। 'राधाकृष्ण' का वह चित्र मैंने खरीद कर उसे दे दिया। उसने वाराणसी लौटकर उसे मँढ़वाया और पीछे वाले छोटे कमरे में टाँग दिया। नाथद्वारा में मुझे श्रीनाथजी की प्रतिमा के पीछे लगे पर्दे पसन्द आए, जिन्हें 'पिछवाइयाँ' कहा जाता है। श्रीनाथद्वारा में मैंने ठहरने की समुचित व्यवस्था कर ली थी। भोग की पत्तल से हम दोनों का काम चल जाता था। उमा मुझे अपनी सगी–बहिन लगती थी। सारे सम्बन्ध खून के ही नहीं होते, आत्मिक भी होते हैं और वे ही हमारे व्यक्तित्व का, चरित्र का निर्माण करते हैं। यह बात किसी से कहने की नहीं स्वयं अनुभव करने की है। नाथद्वारा में दो दिन बिताकर हम वाराणसी लौट आए। अगले दिन उमा को जाना था।

हमारी अगले वर्ष की यात्रा, कुछ अधिक दिनों की थी। उमा की माताजी उस पर कृपालु थीं। उन्होंने उसे पन्द्रह दिन के लिए सेवा–निवृत्त कर दिया।

अबकी हमारे साथ उमा सुदूर रामेश्वरम् तक गई। दक्षिण भारत में हमने जो विशाल मन्दिर देखे, उसकी उमा कभी कल्पना भी न कर सकती थी। हम लोगों ने तंजौर में दूर–दूर तक फैला वृहदीश्वर का मन्दिर देखा और मदुरै में मीनाक्षी सुन्दरम् का– मीनाक्षी अर्थात् पार्वती और सुन्दरम् अर्थात् शिव। उमा दक्षिण भारत के शिल्प कृतियों से भरे गगनचुम्बी गोपुरम् देखकर चकित थी, सब कुछ विशाल, अद्भुत और अलौकिक लगा। रामेश्वरम् के गलियारे शिल्प खचित स्तम्भों पर देवी–देवताओं की भव्य–मूर्तियाँ थीं। स्टीमर से हम लोग स्वामी विवेकानन्द स्मारक भी देखने गए। लगा कि हमारा देश भारत जितना विशाल है, उतना ही भव्य भी है।

एक दिन उमा आई तब वह घबराई हुई थी। बोली,"दादा ! अब मैं आपके पास कभी न आ सकूँगी।"

मैंने पूछा,"क्या हुआ? क्या तुम्हारी माताजी ने भू–तल पर आने की अनुमति देने से इनकार कर दिया? क्या वे मुझसे रुष्ट हैं?"

"नहीं, नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। आपकी तो वे प्रशंसा करती हैं। कहती हैं, वह तो देवता है। देवता में खोट हो सकती है लेकिन उसमें नहीं है। तुझे तो वह अपनी सगी छोटी बहिन ही मानता है।"

उमा बोली,"दादा ! मेरी इस मानवेत्तर जीवन की अवधि पूरी हो गई है। यह अभिशप्त जीवन छोड़कर मुझे संसार में नया जन्म लेना होगा। वे मेरे लिए किसी उपयुक्त माता–पिता की तलाश कर रही हैं। वे चाहती हैं कि मैं किसी की पहली संतान के रूप में जन्म लूँ, ताकि मुझे पूरा लाड़–प्यार मिल सके। माताजी सर्वज्ञ हैं। संसार में उनसे कुछ भी नहीं छिपा है। कह रही थीं,'तेरे पति को फाँसी की सज़ा हो गई है। आयेगा तो यहीं। मैं उससे अब अच्छी तरह निबटूँगी।' हाँ, एक बात और बतलाओ दादा ! क्या आप मेरे लिए पिण्डदान करने गया गए थे? आपने तो मुझे बतलाया नहीं। माताजी ने ही बतलाया।"

"इसमें तुम्हें बतलाने की क्या बात थी?" मैंने कहा। उमा मेरे पास तीन दिन रहकर चली गई। वह मुझसे विश्वनाथजी के प्रसाद के अलावा कुछ नहीं ले गई। मैंने उसका फ़ोटोग्राफ लंका के एक अच्छे फोटोग्राफर से उतरवा दिया। उसकी आवाज़ अपने टैप–रिकार्डर में भर ली। उमा एक दिन संकटमोचन के दर्शन के लिए भी गई।

अपने जाने के दिन वह रो रही थी। लगता था कि घर से बेटी की विदा हो रही है। मेरी आँखें भी सजल हो उठी थीं। उसे विदा करने मैं लंका तक गया।

ंने कहा,"बेटी ! मैं तुम्हें कुछ भी नहीं दे सकता लेकिन प्रभु से प्रार्थना है कि तुम्हारा नया जीवन शुभ हो। तुम्हें भले; संवेदनशील लोग मिलें।" चलते-चलते उसकी आकृति धूमिल हो गई और फिर तिरोहित।

पाँच वर्ष तक मुझे उसका कोई समाचार न मिला। मिलता भी तो कहाँ से?

XXX

एक दिन सबेरे मैं अख़बार देख रहा था। तभी मेरी दृष्टि एक छोटी-सी ख़बर पर पड़ी। किन्हीं सज्जन की चार साल की लड़की को अपने पूर्वजन्म की दो बातें याद हैं। एक तो यह कि उसका नाम उमा है। दूसरा यह कि उसके हरि नाम के कोई बड़े भाई थे। वह बार-बार पूछती है कि मेरे हरि दादा कब आयेंगे? इसके अलावा वह और कुछ नहीं बतला पाती। शायद यह ख़बर पराविद्या में रुचि रखने वालों के लिए छपी थी, लेकिन मेरे लिए यह महत्त्वपूर्ण सूचना थी। मेरी आँखों में आँसू आ गए। नए जन्म में भी वह अपने हरि दादा को नहीं भूली। क्या यह जगत्दात्री माताजी की मुझ पर अनुकम्पा हुई है? मैंने मन-ही-मन उनको प्रणाम किया। समाचार में उमा के नए पिता का नाम और पता भी दिया गया था। तो मैंने डायरी में नोट कर लिया। स्थान बहुत दूर न था लेकिन एक्सप्रेस से चार-पाँच घंटे की यात्रा तो थी ही।

मैंने प्रिंसिपल से चार दिन की छुट्टी ले ली। संयोग से रिजर्वेशन भी जल्दी मिल गया। मैं रविवार को पहुँचा था। स्टेशन से मैंने रिक्शा ले लिया। स्टेशन से घर दो किलोमीटर से अधिक दूर न था। सड़क पर नीचे दो-तीन दूकानें थीं और ऊपर सामने छोटी-सी खुली हुई छत और भीतर कुछ कमरे थे। वकील साहब ऊपर ही रहते थे। गली में एक ओर छोटा-सा गेट था। द्वार पर ही उनके नाम का बोर्ड लगा था-

रामनिवास द्विवेदी, वकील सिविल कोर्टस् ।

गेट खोलकर मैं ऊपर चढ़ा। सात-आठ चौड़ी सीढ़ियाँ थीं। ऊपर चढ़कर देखा कि खुली छत पर, रेलिंग के पास फूलों के कुछ गमले रक्खे हुए हैं और उन गमलों के पास चार साल की एक सुन्दर लड़की रेलिंग पकड़े खड़ी है। वह नीचे सड़क पर आने-जाने वालों को देख रही है। ज्योंही उस बालिका की दृष्टि मुझ पर पड़ी, वह दौड़ती हुई सामने वाले अपने पिता के दफ़्तर में गई और बोली,"पापा, पापा! मैं कहती थी न कि मेरे हरि दादा जरूर आयेंगे। लो, वे आ गए।"

वकील साहब भौचक्के से उमा की उँगली पकड़कर बाहर यह देखने निकल आए कि यह कौन आया है, जिसे वह अपना हरि दादा समझ रही है? उन्हें

देखकर, नमस्कार करके, मैंने उनको अपना परिचय दिया–"मैं डॉ० हरिशंकर पाण्डेय। काशी, हिन्दू विश्व–विद्यालय में इतिहास का 'रीडर' हूँ।"

मेरा परिचय सुनकर वे आश्चर्यचकित रह गए। बोले,"आइए, आइए डॉक्टर साहब ! तो आप ही हैं, इसके हरि दादा ! इसे कुछ स्मरण नहीं है। यह केवल अपना नाम बतलाती है और आपके बारे में पूछती रहती है कि आप कब आएँगे? इसके अलावा इसे और कुछ भी याद नहीं है। यदि और कुछ संकेत मिल जाते तो मैं आपको सूचित कर देता। या हम लोग स्वयं ही इसे लेकर आपके पास पहुँच जाते। आप हमारी विवशता समझ सकते हैं लेकिन लगता है कि आपको देखते ही इसकी पूर्व–स्मृति जाग उठी है। आश्चर्य है !"

फिर वकील साहब ने अपनी पत्नी को आवाज़ दी–"मृदुल ! देखो तो सही, यह कौन आए हैं? उमा के हरि दादा !"

वे हड़बड़ाकर बाहर आईं। वकील साहब की आयु लगभग तीस साल की होगी और उनकी पत्नी की चौबीस–पच्चीस साल की। उमा उनकी पहली संतान है। मृदुला ने आकर मुझे नमस्कार किया और उनके पति ने उन्हें मेरा परिचय दिया।

वे हँसी। मैं तो इसकी बातों को यों ही बचपन की कल्पना ही समझ रही थी। यह मुझे तंग करती और बार–बार पूछती कि मेरे हरि दादा कब आयेंगे तो मैं खड़ी होकर माथ पर हाथ रखकर गाने लगती, **'सुनी हो मैं हरिआवन की आवाज़'** या **'कोई कहियो रे हरि आवन की'** तब यह और भी चिढ़ जाती। यह अपने पापा के पास जाकर मेरी शिकायत करती,"पापा, अम्मा को डाँटो। यह मुझे चिढ़ाती हैं।"

उमा अपनी माँ की गोद से उतरकर मेरी गोद में आकर बैठ गई। मैंने अपने कोट की जेब से कटक की 'फिलगिरी' के काम की चाँदी की चेन निकाली और उसे दुहरा करके उमा के गले में डाल दिया। उसमें नीचे एक गोल ठप्पा था जिसमें एक छोटी–सी घड़ी लगी थी।

फिर मैंने दूसरी जेब से चाँदी की पायलें निकालीं जो मैंने सुनार से, उमा के लिए विशेष रूप से तैयार कराई थीं। उसमें मैंने चाँदी की छोटी–छोटी घंटियाँ लगवा दी थीं। मैंने उन पायलों को उमा के पैरों में पहना दी। उमा मेरी गोद से उतर कर चली तो घंटियाँ बज उठीं। वह खुश हो गई। उसने माला अपने गले से उतार कर अपनी माँ के गले में डाल दी। फिर बोली,"माँ, इसे तुम पहनो। यह बहुत बड़ी है।" फिर बड़े भोलेपन से बोली,"इसमें घड़ी लगी है। मुझे तो घड़ी देखना ही नहीं आता।"

उसकी यह बात सुनकर सब लोग हँस पड़े।

मृदुला कुछ देर तक उस चेन को देखती रही। फिर बोली,"यह तो चाँदी के पतले तार को गूँथकर बनाई गई है।"

मैंने कहा,"जी हाँ, इस काम को 'फिलगिरी' कहते हैं। उड़ीसा के अलावा यह काम और कहीं नहीं होता।"

मृदुला चेन को मुझे वापस देने लगीं। मैंने उसे उनको लौटाते हुए कहा कि "यह तो संकल्पित है। अब आप पहनिए इसे।" फिर मुझे न जाने क्या सूझा। मैंने उनसे कहा,"मेरी छोटी बहन का आसन कई साल से खाली पड़ा है। मैं उस पर आपको प्रतिष्ठित कर दूँ?"

मृदुला हँसीं। बोलीं,"मेरा सौभाग्य !" फिर वकील साहब की ओर देखकर बोलीं,"कैसा विचित्र संयोग है ! मेरा भी तो कोई बड़ा भाई नहीं है।"

वकील साहब मेरी ओर देखकर बोले,"आप बहुत गहरे पानी में उतर गए, डॉक्टर साहब?"

"काश, आप मेरी खुशी का अन्दाज़ लगा सकते। मुझे तो प्रभु–कृपा से मेरा खोया हुआ हीरा ही फिर मिला है।"

"यह तो आप ठीक कहते है।" वे बोले, सब संयोग है या प्रभु की लीला।

मृदुला चाय बनाने रसोई घर में चली गई। उनके साथ उमा भी चली गई। वकील साहब ने पूछा "आपको इसकी खबर कैसे मिली ?"

एक दिन अखबार में एक छोटी सी खबर छपी थी। उसमें आपका नाम और पता भी छपा था" मैंने कहा।

"एक दिन कुछ परिचित पत्रकार आए थे। उन्हीं ने अपने अखबार में यह समाचार दे दिया होगा।" वे बोले।

"खैर, मेरे लिए तो अच्छा ही हुआ। उमा का सूत्र मिल गया।" मैंने कहा ।

वकील साहब और उनकी पत्नी दोनों सुन्दर, शालीन और मिलनसार थे। उमा उनकी पहली संतान थी। लगा कि जगत्माता ने उमा पर प्रसन्न होकर उसके लिए उपयुक्त ही माता–पिता खोजे हैं। उनका स्वभाव मधुर है।

मृदुला चाय लाई तो उमा भी उनके साथ आ गई। उसने मेरी अटैची देखकर पूछा,"और इसमें क्या है?"

"लो तुम्हीं देख लो न।" मैंने अटैची का ताला खोल दिया।

उमा उसे सामने की मेज़ पर खोलकर बैठ गई। "अरे वाह ! इतना सारा मेरे लिए?"

मैंने कहा,"पापा और मम्मी के लिए भी" लेकिन उसने नहीं सुना। वह अपनी

धुन में कहती जा रही थी,''बिस्कुटों का डिब्बा, चाकलेट का डिब्बा, इतनी मिठाई और मेरे लिए इतने सारे कपड़े। बढ़िया कामदार जूते ! अरे, मैं तो रानी बन् गई।''

उसने मेरे गले में अपने नन्हें–नन्हें हाथ डाल दिए–**''पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे।''** सब लाए लेकिन मेरे श्याम–सलोने को तो भूल ही आए। अब मैं किसके आगे नाचूँगी? किसको भोग लगाऊँगी?''

मैं आश्चर्यचकित था। ''प्रभु कैसी है तुम्हारी लीला? तुम अपनी इस उपासिका को नहीं भूले।'' यह रहस्य स्वयं मेरे लिए नया तो था ही, युग के वैज्ञानिकों को भी एक चुनौती थी।

मेरी अटैची में वेणुवादक कृष्ण की मूर्ति अख़बार के काग़ज़ में लिपटी रक्खी थी। उस पर उमा की दृष्टि न पड़ी थी। मैंने काग़ज़ हटाकर श्रीकृष्ण की वह काष्ठमूर्ति उसके हाथों में दे दी।

उमा ने हर्षातिरेक से मूर्ति अपनी छाती से लगा ली और दौड़ती हुई अपनी माँ के पास गई,''माँ, गीत गाओ। भोग लगाओ। आज मेरे कृष्ण–कन्हैया, वंशी–बजइया आए हैं।''

उसकी माँ ने उसे अपनी छाती से चिपका लिया और उसे चूमती हुई बोली,''ज़रूर गीत गाऊँगी। ज़रूर भोग लगाऊँगी।'' फिर वे उमा और वंशीवादक श्रीकृष्ण की मूर्ति लेकर वकील साहब के कमरे में आईं। वकील साहब उस प्रतिमा को देर तक देखते रहे। फिर बोले,''अद्‌भुत मूर्ति है। ग़ज़ब का आकर्षण है।''

भोजन के पश्चात् मैंने बैठक में कुछ देर आराम किया। कल रात में ट्रेन में रिजर्वेशन था लेकिन ठीक से निद्रा नहीं आई थी। मन विचारों में उलझ गया था। उमा मुझे पहचान ही न सके? अथवा मुझ जैसे अजनबी से अपने बच्चों को मिलाने में उसके माँ–बाप को एतराज़ हो। सोकर उठा तो मृदुला ने चाय और बिस्कुट दिए। उसके बाद मैंने वकील साहब से चलने की अनुमति माँगी। वे चौंके,''आप अभी कैसे जा सकते हैं? दो–एक दिन तो रुकिए।'' मृदुला बोलीं,''उमा आपको इतनी जल्दी जाने देगी? रो–रोकर घर भर देगी। फिर कल शाम को तो वह कृष्ण–मूर्ति की पूजा करेगी।''

''मैंने कहा,''ठीक है। मेरा रिजर्वेशन तो करा दीजिए।''

संयोग से तीसरे दिन का रिजर्वेशन मिल गया। अगले दिन वकील साहब ने सायं के कार्यक्रम के लिए अपने कुछ घनिष्ठ मित्रों और निकट के पड़ोसियों को निमंत्रित कर दिया। 'उन्होंने पूछा कि किस उपलक्ष्य में?' वकील साहब ने उनको बतला दिया कि ''मृदुलाजी के बड़े भाई वाराणसी से आए हैं। वे उमा के

लिए एक अत्यंत कलात्मक कृष्ण–प्रतिमा लाए हैं। उमा शाम को उसकी पूजा करेगी।"

सबने फोन पर आने की सूचना दे दी।

संध्या के समय कृष्ण–पूजा का आयोजन हुआ। गिने चुने लोग थे। मैं यह देखकर आश्चर्य से चकित रह गया कि उमा नए जन्म में भी पूजा की वह विधि नहीं भूली। उमा ने पहले कपड़ा भिगोकर और फिर निचोड़कर उससे मूर्ति को पोंछा और फिर सूखे कपड़े से। ठीक उसी तरह जैसे कि हम वाराणसी में करते थे। क्या मनुष्य के साथ उसके एक नए जीवन में पूर्व जन्म के संस्कार भी आते हैं? मृदुला ने मूर्ति के नीचे फूल रख दिए और अगरबत्तियाँ जला दीं। मैं उमा के कपड़ों में उसके लिए गोटे का लँहगा और जयपुर का लहरियादार दुपट्टा लाया था। मृदुला ने उसे वही कपड़े पहना दिए और पैरों में घंटियोंदार चाँदी की पायलें भी पहना दीं। उमा सुन्दर तो है ही, उसका रूप और भी निखर उठा। उसने गीत उठाया, "**नाचूँगी, नाचूँगी, मैं तो गिरधर आगे नाचूँगी।**" मृदुला घटवादन कर रही थीं। नन्हीं उमा किसी मँजे हुए कलाकार जैसा अभिनय कर रही थी। उसके भाव–प्रदर्शन को देखकर सभी को आश्चर्य हो रहा था।

एक पड़ोसिन बोली,"मृदुला ! तू बड़भागिन है। आज तेरे घर गिरधर और मीरां दोनों आए हैं।"

मृदुला बोली,"दीदी, इसे आशीर्वाद दो कि खूब पढ़े–लिखे। जीवन में सुख पाए।" पड़ोसिन ने मीरां को उठाकर चूमा और उस पर रुपए से न्यौछावर की, उसके बाद आरती हुई–

"आरति राधावर की कीजै,
तन, मन, धन न्यौछावर कीजै।"

मृदुला के बड़े भाई के रूप में मेरा परिचय कराया गया। जब मुझसे भी कुछ कहने का आग्रह किया तो मैंने कृष्ण–भक्ति सम्बन्धी अपनी दो रचनाएँ सस्वर पढ़ दीं। वे उन लोगों को पसन्द आईं। फिर प्रसाद–वितरण हुआ। इस प्रकार भगवान् कृष्ण को श्रद्धा से समर्पित वह छोटा–सा आयोजन एक अविस्मरणीय घटना बन गया।

दो महीने के बाद दशहरा था। मैंने उन लोगों को वाराणसी आने का आमंत्रण दिया। उन्होंने प्रसन्नता से स्वीकृति दे दी।

इस प्रकार मेरा नेह का एक नया नाता बन गया। "**नाते सबै नेह के कहियत।**"

मृदुला बोली,"दादा ! मैंने तो अब तक वाराणसी देखी ही नहीं है।"

वकील साहब ने कहा,"एक बारात में गया था। रात को द्वाराचार हुआ और फिर भोजन। सबेरे गंगा–स्नान करके हम लोग बस चल दिए।"

मैंने उनसे कहा, "आप लोग कम–से–कम सात दिन का प्रोग्राम बनाकर आइए। दो दिन तो सारनाथ और यूनीवर्सिटी में ही निकल जाँयगे। दशहरा और दिवाली के बीच में ट्रेनों में यों ही बड़ी भीड़ रहती है। पहले से रिजर्वेशन बहुत आवश्यक है। यूनीवर्सिटी से कैण्ट स्टेशन बहुत दूर है। मुझे फोन से सूचित कर दीजिएगा। मैं स्टेशन पर ही मिल जाऊँगा। आपको भटकना न पड़ेगा।"

वकील साहब, मृदुला और उमा मुझे पहुँचाने स्टेशन तक आये। कुछ लोग दो दिन में ही आत्मीय बन जाते हैं और कुछ लोग जीवन–भर साथ रहकर भी पराए बने रहते हैं। स्टेशन पर उमा बोली,"जल्दी आना हरि दादा।" मैंने कहा,"पहले तुम आना उमा !"

अपने पूर्व–निश्चित कार्यक्रम के अनुसार दशहरे की छुट्टी में वे लोग आ गए। उनका फोन मिल गया था। मैं उनको थ्री–ह्वीलर में ले आया। मैंने उनके ठहरने की सारी व्यवस्था कर ली थी। मैं पीछे के छोटे कमरे में चला गया। बाहर के बड़े कमरे में एक पलंग था ही उसमें एक फोल्डिंग और डलवा लिया। एक मित्र छुट्टी में अपने घर जा रहा था। मैं उससे गैस का चूल्हा ले आया।

वाराणसी के मन्दिर–घाट, विश्व–विद्यालय, विश्वनाथ मन्दिर, कैण्ट के पास का भारत माता मन्दिर और सारनाथ घूमने में ही सात दिन कैसे निकल गए, पता ही न चला। सबेरे हम लोग नाश्ता और फिर खाना खाकर निकलते और रात को घर लौटते। शाम को चाय हम लोग बाहर ही लेते। मैं उन लोगों से कभी बाहर खाने की बात करता तो मृदुला कहतीं,"नहीं, हरि दादा ! बाहर के खाने से मन नहीं भरता। साग तो मैं सबेरे ही बनाकर आती हूँ। लौटकर साग गर्म करना और पूड़ियाँ सेकना रह जाता है।"

वकील साहब, मृदुला और उमा सब लोग संतुष्ट और प्रसन्न थे। मैंने उन लोगों को उमा का वह फोटो दिखलाया जो मैंने उसके जाते समय लिया था। उसके बारे में कुछ भी बतलाना व्यर्थ था। टैपरिकार्डर पर उसका गीत सुनकर मृदुला बोल उठीं,"कितना मीठा स्वर है?"

वाराणसी में एक सप्ताह रहकर वे लोग लौट गए। चलते समय उमा बहुत उदास थी। मैंने उसके लिए कुछ खिलौने खरीदे। विश्वनाथ गली से उसने बैण्ड व बालों का लकड़ी का सैट लिया। किसी तरह वह अपने कृष्ण–कन्हैया का छोटा–सा मन्दिर भी ले गई।

चलते समय मैंने वकील साहब को सौ–सौ के पाँच नोट दिये,"बहन की विदा और आपके तिलक के।" उन्होंने मृदुला की ओर देखा–"इनसे नहीं लूँगी तो किससे लूँगी। मैं बहन का हक़ छोड़ने वाली नहीं हूँ। लेकिन इतना नहीं। यहाँ तो आपने हम लोगों को एक रुपया भी न खर्च करने दिया।" उसने सौ का एक नोट रखकर बाकी मुझे लौटाने चाहे लेकिन मेरे आग्रह से वे उसे रखने ही पड़े। मूल्य रुपए का नहीं, उससे जुड़ी आत्मीयता का होता है।

वकील साहब का परिवार मेरा आत्मीय बन गया है। उमा के जन्म–दिन पर मैं वहाँ अवश्य जाता हूँ। उमा मुझे देखते ही फूल की तरह खिल जाती है। रक्त–सम्बन्धों से आत्मा के नाते जिनको हम 'आत्मिक सम्बन्ध' कहते हैं, अधिक दृढ़ होते हैं। वे मनुष्य के सुख–दुःख और मान्यताओं को बाँधे रखते हैं।

उमा के जन्मदिन का 'बर्थ डे केक' मैं अपनी रुचि से काशी में ही बनवाता हूँ और उसे अच्छी तरह पैक कराकर बड़ी सावधानी से ले जाता हूँ। जन्मदिन को उमा को सबेरे चाँदी के चम्मच से खीर खिलाई जाती है, जो उसकी नानी ने भेजी है। शाम को गुब्बारों और झंडियों से कमरा सजाया जाता है। उमा के पड़ोस के नन्हें–नन्हें बच्चे रंगीन टोपियाँ पहनकर 'बर्थ डे टू यू' गाते हैं। मैं जब भी जाता हूँ, मृदुला प्रेमशंकर के लड़के के लिए कुछ–न–कुछ कपड़ा देती ही है। कभी उसकी पत्नी को साड़ी।

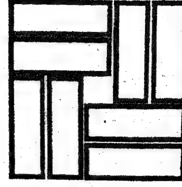
तीन साल बीत गए। उमा अब स्कूल में तीसरी कक्षा में है। एक दिन वकील साहब का तार मिला,"बधाई है। आपके भानजा हुआ है। माँ और बच्चा दोनों प्रसन्न हैं।"

दूसरे दिन मैंने फोन किया। वकील साहब तो कोर्ट चले गए थे। फोन मृदुला ने ही उठाया,"मैं ठीक हूँ दादा ! बच्चा भी ठीक है। डिलीवरी अस्पताल में हुई। उमा की दादी गाँव से आ गई हैं। चिंता की कोई बात नहीं है। आप अपनी फुरसत से आइए। लीजिए अब उमा से बात कीजिए।" उमा बोली,"छोटा–सा गोरा–गोरा भैया आया है। रोता बहुत है। यों सारे दिन सोता है। आप जल्दी आइए। आपकी बहुत याद आती है। मैं पढ़ने जाती हूँ।"

मैंने मंगलमय प्रभु को शत्–शत् धन्यवाद दिए–

"प्रभु ! इस भिखारी की झोली को तुमने अपार आनन्द और तृप्ति से भर दिया है। तुमने मुझे जो दिया, वह भला और कौन दे सकता था। उमा को प्रसन्न रखना। उसके जीवन में खुशियाँ भर देना। उसका सुख ही मेरा अपना सुख है।

☐ ☐



कला-यतन

दशार्ण जनपद की राजधानी विदिशा अपने सुरम्य हर्म्यो और प्रसादों से प्रथम दृष्टि में ही नवागांतुक का मन मोह लेती है। इसीलिए कालिदास का यक्ष अपने सन्देशवाहक मेघ से कहता है कि "तुम विश्राम लेने के लिए विदिशा की निकटवर्ती नीलगिरि की पहाड़ी पर रुक जाना, किन्तु विदिशा में अधिक दिनों तक ठहरना नहीं।" यक्ष डरता है कि यदि कहीं मेघ वेकवती (बेतवा) के सुन्दर हार से सज्जित विदिशा नगरी की सुन्दरता में ही खो गया तो उसकी विरहिणी प्रिया के पास उसका प्रेम–सन्देश कौन जाने कब पहुँचे? विदिशा पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आसीन, उन परम भागवत् सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय की प्रिय नगरी है, जिन्होंने सौराष्ट्र और गुर्जर देश के शकों का दर्प चूर्ण करके ध्रुवस्वामिनी का उद्धार किया है। सम्राट् के अतिविश्वासपात्र महासामंत वीरसेन उनके प्रतिनिधि के रूप में विदिशा का कार्य–भार सँभाल रहे हैं। शांति में और युद्ध में भी।

विदिशा के सार्थवाहों की टोलियाँ जब अपना माल बेचने दूरस्थ देशों में जाती हैं तब वे विदिशा के वास्तु–वैभव और समृद्धि के साथ उज्ज्यियिनी (उज्जैन), माहिष्मति (महेश्वर) और नागों की राजधानी पद्मावती (पवाया) की तुलना करते हैं। उस समय वे विदिशा के कला–प्रिय, संस्कारशील नागरिकों की चर्चा करना नहीं भूलते। विदिशा के आराध्य प्रकाश के देवता सूर्य अथवा भिल्लस्वामी हैं। नगर के देवालय में यक्षपति कुबेर की मानवाकार से भी बड़ी प्रतिमा प्रतिष्ठित है, जिनके एक हाथ में थैली है।

शीतऋतु का आगमन हो चुका है। दीपावलीं कुछ दिन पहले ही बीती है। किन्तु लगता है कि श्रेष्ठी बीथिका में पुनः ज्योति पर्व मनाया जा रहा है। साँझ होते ही वह दीपकों के प्रकाश से जगमगा उठेगी। आज नगर–श्रेष्ठी चारुदत्त की

एकमात्र संतान 'दिव्या–श्री' का पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न होने जा रहा है। बारात उज्ज्यिनी से आ रही है। भगवान् महाकालेश्वर की पवित्र नगरी से। नगर–श्रेष्ठी चारुदत्त की विदुषी, वीणावादिनी दिव्या को भला दशार्ण जनपद में कौन नहीं जानता? दिव्या–श्री सचमुच देवांगनाओं जैसी ही सौन्दर्यशालिनी है। नगर के सांस्कृतिक समारोहों में जब वह अपनी वीणा लेकर मंच पर बैठती है तब लगता है कि साक्षात् सरस्वती ही आकर विराजमान हो गई हों। लक्ष्मी और सरस्वती को प्रतिदंद्विनी कहा गया है किन्तु दिव्या–श्री में मानों दोनों देवियों का विरल संयोग हुआ है। वह अपने पिता की अपार समृद्धि की अकेली उत्तराधिकारिणी है, फिर भी रूप, प्रतिभा और धन के अभिमान ने उसे स्पर्श तक नहीं किया है। चारुदत्त भी नगर–श्रेष्ठी ही नहीं, सच्चे अर्थों में नगर–पिता हैं।

श्रेष्ठी चारुदत्त के सम्बन्ध में दो बातें कोई नहीं जानता। एक तो यह कि उनके पूर्व–पुरुषों के संचित कोष में कितनी स्वर्ण–मुद्राएँ हैं। और दूसरी यह कि उनका हृदय कितना विशाल है? लगता है कि सारी विदिशा नगरी ही उनका परिवार है। किसी भी परिवार में कोई विवाह हो, उनके घर हल्दी से रंगे चावल और सुपारी आती ही है। कन्या के विवाह में चारुदत्त स्वयं ही रजत–मुद्राएँ लेकर उसके पैर पूजने जाते हैं। वह पीले रंग का रेशमी जोड़ा, जिसे पहनकर वह अपनी 'सप्तपदी' पूरा करती है, स्वयं श्रेष्ठि पत्नी और दिव्या–श्री लेकर जाती हैं। पुत्र के विवाह में उसके श्वसुर गृह से कलाबत्तू की दो पगड़ियाँ आती हैं; एक महासांमत वीरसेन के लिए और दूसरी श्रेष्ठी चारुदत्त के लिए। विदिशा के नागरिक चारुदत्त को अपना शुभेच्छु और परम आत्मीय मानते हैं। यही कारण है कि नगर के परिवारों में इतना उत्साह और उमंग है, मानो दिव्या–श्री का विवाह उन्हीं के घर से सम्पन्न होने जा रहा हो।

श्रेष्ठी बीथिका (सेठ गली) में रंगीन, रेशमी पताकाएँ लहरा रही हैं। विवाह मंडप की शोभा देखते ही बनती है। श्रेष्ठी–आवास के प्रवेश द्वार के दोनों ओर पद्म और शंख की मांगलिक आकृतियाँ चित्रित हैं। ज्यों–ज्यों संध्या निकट आ रही है, नगर की चहल–पहल भी बढ़ती जा रही है। ताम्बूल–विकेताओं की दूकानों पर भीड़ है। बेला के गजरे और हार तो मिल ही नहीं रहे। बरातियों के कंठ में डालने के लिए वे पहले से ही खरीदे जा चुके हैं।

विदिशा की कुमारियाँ और बधुएँ, अपने वस्त्रों और आभूषणों के चुनाव में लगीं है कि वे विवाह में क्या पहनेंगी? बालिकाएँ नगर की वाटिकाओं में से फूल चुन लाई हैं। जब नीचे गली से श्रीवर की शोभा–यात्रा निकलेगी, तब वे उनके

ऊपर इन फूलों की पंखुड़ियों की वर्षा करेंगी। सबके मन में एक अद्भुत उत्साह की लहर है। उनकी सेठ काका की बिटिया का विवाह जो है।

दिव्या–श्री की सखियों ने उसे सबेरे से ही घेर लिया है। उसके हाथों में कल रात राजस्थानी वधुओं ने जो मेंहदी रची थी, उसकी अलंकृति देखते ही बनती है। उसके हल्दी और चन्दन का उबटन लगाया जा चुका है। वधू का शृंगार पूरा हो चुका है। उसके केशों के अगरु–धूम से सुवासित करके मोतियों की लड़ियों के साथ उसकी चोटी गूँथी जा चुकी है। अब वधू की सहेलियाँ उसे वस्त्र और आभूषण पहना रही हैं। उसे हल्के, कलापूर्ण आभूषण, जिनमें रत्न जड़े हैं पहनाए जा रहे हैं। गुप्तयुगीन हस्त–शिल्पियों के चमत्कार पारदर्शी वस्त्र पहन कर उसका दिव्य रूप खिल उठा है। दिव्या–श्री के कपोलों और माथे पर चन्दन के लेप की रेखाएँ मनोरम अलंकृति बनकर दौड़ रही हैं। जब वधू का श्रृंगार हो चुका तो उसकी एक सखी ने अपने हाथ से उसके मुँह में महकता पान रख दिया। दूसरी सखी ने उसके आगे दर्पण रख दिया। दिव्या ने उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखा और अपने रूप पर स्वयं ही लजा गई। आज वह अमरावती की इन्द्राणी–सी लग रही थी।

संध्या निकट आ रही है। उज्ज्यिनी के प्रमुख रत्न–व्यवसायी भोजसेन अपने पुत्र चन्द्रसेन का विवाह करने आ रहे हैं। तभी सहसा कोलाहल हुआ कि बारात आ गई। रथों की झनकार और घोड़ों के टापों की आवाजें निकट आने लगीं। अब तो हाथियों के घंटों की घनघनाहट भी स्पष्ट सुनाई देने लगी। श्रेष्ठी चारुदत्त, उनके सम्बन्धी और जनपद के सम्भ्रांत नागरिक बारात के स्वागत के लिए नगर के सीमान्त पर ही उपस्थित थे। बारात में सबसे आगे घोड़ों पर दो तूर्यवादक हैं। जब वे पूरी शक्ति के साथ तुरही फूँकते हैं, तब उसकी आवाज़ पास के कई गाँवों में गूँज जाती है। जंगली पशु मार्ग से हट जाते हैं। तूर्यवादकों के पीछे अश्वों पर सुरक्षा–सैनिकों की पंक्तियाँ हैं। मार्ग में घना जंगल है। सैनिकों की कमर के म्यान में लम्बी तलवारें लटक रही हैं। उनके भालों के ऊपर नेजे पर रंग–बिरंगी पताकाएँ लगी हैं, जो चलते समय लहराने लगती हैं।

सबसे आगे के गज पर स्वयं भोजसेन और उनके पुत्र चन्द्रसेन बैठे हैं। हाथियों को रंगा और सजाया गया है। उनके ऊपर सुनहली और रुपहली ज़री की झूलें पड़ी हैं। हाथियों के ऊपर चाँदी के हौदे रक्खे हैं। उनके पीछे चलते–फिरते देवालयों से शिखर मुक्त रथ हैं। शोभा–यात्रा देखने ही योग्य है। सबसे अंत में बारातियों के सामान से लदी बैलगाड़ियाँ हैं।

नगर के सीमान्त पर आकर शोभा–यात्रा रुक गई। हाथी बिठाल लिए गए। सिखाए हुए हाथियों ने अपनी सूँड़ें उठाकर माथे से लगा लीं। मानो अभिवादन कर रहे हों। हाथी से उतर कर रत्नपति भोजसेन ने श्रेष्ठी चारुदत्त को अपनी भुजाओं में भर लिया। अपने हाथों का सहारा देकर सुभद्र ने चन्द्रसेन को हाथी से उतारा। चन्द्रसेन ने मन्दस्मित किया। नगर श्रेष्ठी चारुदत्त के बाह्यबन्धु भास्कर वर्मा का पुत्र सुभद्र यूनानियों जैसे नाक–नख्शे का, लम्बा, गौरवर्ण तरुण है। कंधे पर पिंगल केश छिटक रहे हैं।

सुभद्र को लगा कि चन्द्रसेन दिव्या जैसा, उज्ज्वल गौर वर्ण नहीं है। दिव्या तो हिम–कन्या उमा–सी लगती है। फिर भी वह खिलते हुए गेंहुए रंग का आकर्षक तरुण है। उसकी मसें भींग रही हैं। उसकी बोलती हुई सी बड़ी–बड़ी आँखें और अधरों की मीठी हँसी उसके व्यक्तित्व में आकर्षण भर रहे हैं। हाथी से उतारकर सुभद्र ने चन्द्रसेन को अपने अंक में भर लिया। 'मैं, सुभद्र' उसने धीरे से चन्द्रसेन को अपना परिचय दिया। 'अरे ! तो सुभद्र दादा आप ही हैं। उसने झुककर सुभद्र के चरण–स्पर्श किए। सुभद्र ने उसके कंधे पर स्नेह से हाथ रख दिया। दोनों के लिए अश्व तैयार खड़े थे। उन पर बैठकर वे जनवासे की ओर चल दिए। सुभद्र और चन्द्रसेन दोनों को लगा कि परोक्ष रूप से ही सही, वे एक–दूसरे से पूर्व–परिचित हैं। जनवासा अधिक दूर न था। भोजसेन, चारुदत्त और अन्य नागरिकों के साथ पैदल ही चल दिए।

श्रेष्ठी चारुदत्त के यहाँ हाथी दाँत की कलात्मक वस्तुओं का व्यवसाय था। यह कार्य कुषाण–काल से ही प्रारम्भ हो गया था। हाथी दाँत की लघु आकार की सुघर मूर्तियाँ भले ही पूजा–गृह में प्रवेश न पाती हों किन्तु सुरुचि, सम्पन्नता और कलात्मकता की दृष्टि से वे अत्यन्त मूल्यवान् मानी जाती थीं। यूनान, ईरान और रोम तक में उनकी माँग थी। हाथी दाँत के पतरे पर कलात्मक नारी–शृंगार की छवियाँ आँकी जातीं और उन्हें काठ की सन्दूकचियों के ऊपरी भाग में जड़ दिया जाता। श्रेष्ठी चारुदत्त की कार्यशाला के शिल्पी पिछली सदियों से वंश परम्परा से इस कला से जुड़े थे। पूर्वकाल में उनकी कार्यशाला के कारीगरों ने साँची के महास्तूप के दक्षिण तोरण की उकेरी में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। यवन रमणियाँ हाथी दाँत की बनी वस्तुओं को बहुत पसन्द करती थीं।

गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के विदिशा स्थित प्रतिनिधि महासामंत वीरसेन चारुदत्त और उनके परिवार को विशेष सम्मान की दृष्टि से देखते थे। इसका एक विशेष कारण था। कई शताब्दियों पहले की बात है। जब मगध के मौर्य सम्राट्

बिन्दुसार ने अपने पुत्र अशोक को उज्ज्यियिनी का कुमारामात्य नियुक्त किया तब उनका विदिशा आगमन भी हुआ। उस समय अशोक का प्रणय–परिणय नगर–श्रेष्ठी की रूपसी कन्या असन्धिमित्रा के साथ हुआ। राजमहिषी उज्ज्यियिनी में तो अपने पति के साथ रहीं। उस समय उनके एक पुत्र महेन्द्र और दो पुत्रियाँ संघमित्रा और चारुमती ने जन्म लिया। सम्राट् अशोक के सिंहासनासीन होने पर भी देवि असन्धिमित्रा पाटलिपुत्र नहीं गई। उनके मन में भगवान् बुद्ध के पवित्र धर्म के प्रति श्रद्धा का जो बीज था, वह वृक्ष रूप में बढ़ता चला गया। विदिशा से थोड़ी दूर पर ही साँची की पहाड़ी थी। साँची का तथागत के जीवन से कोई सम्बन्ध न था। उसकी गणना लुम्बिनी, बोधगया, सारनाथ और कुशीनगर जैसे प्रख्यात् बौद्ध केन्द्रों में न थी परन्तु एकान्त चिंतन की दृष्टि से असन्धिमित्रा ने वहाँ एक विहार की रचना कराई और रहने लगीं। यह भिक्षु विहार उनके पितृ–धन से बना था। उसके पश्चात् सम्राट् अशोक ने वहाँ सारनाथ जैसा ही चतुर्मुख सिंह शीर्ष स्तम्भ खड़ा किया और स्तूपों की रचना कराई। उनके पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा श्रीलंका के देवानांप्रिय तिष्य के विशेष आमंत्रण पर बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए वहाँ गए। संघमित्रा अग्निब्रह्मा और चारुमती नेपाल के महासामंत देवपाल को ब्याही थीं। सागर–यात्रा से पहले महेन्द्र अपनी माता से विदा लेने साँची आए।

आज भी देवी के महाविहार में भिक्षुओं के आवास, भोजन आदि की सारी व्यवस्था श्रेष्ठी चारुदत्त ही करते हैं। स्वयं निष्ठावान हिन्दू होते हुए भी वे धर्म–सहिष्णु हैं। विहार के भिक्षुओं को कोई कष्ट न हो, इसकी देख–रेख सुभद्र ने अपने ऊपर ले रक्खी है। वे बहुधा साँची जाते रहते हैं।

नगर के कुछ उत्साही युवक जनवासे में आकर वहाँ की व्यवस्था देख रहे हैं। सेवक–सेविकाओं का दल बड़े–बड़े रँगे हुए मटकों में मिष्ठान लेकर जा रहा है। ढँके हुए बड़े–बड़े डलों में अन्य भोज्य–सामग्री जा रही है। लम्बी यात्रा से थके बारातियों ने कुछ देर विश्राम करके पहले पेय और फिर अल्पाहार लिया। भोजन की व्यवस्था श्रेष्ठी–आवास पर ही, 'द्वाराचार' (अगवानी) के बाद में है।

श्रेष्ठी चारुदत्त के भव्य भवन के प्रवेश–द्वार पर जल से भरा एक थाल रक्खा है। वे स्वयं उस जल से आगत बारातियों का पद्–प्रच्छालन कर रहे हैं। चन्द्रसेन उनकी दृष्टि बचाकर निकल गया। पितृ–तुल्य श्वसुर से वह पैर कैसे धुलवाता? सुभद्र बारातियों के गले में बेला के हार डाल रहा है। बारात में पचास व्यक्ति से अधिक नहीं हैं। भोजसेन बहुंत समझदार हैं। हाथियों के फीलवान, रथों को हाँकने वाले, सुरक्षा के अश्वारोहियों और गाड़ीवानों की संख्या ही

काफ़ी है। फिर कामकाज करने वाले सेवक हैं।

श्रेष्ठी आवास के आगे विशाल प्रांगण में चंदोवेदार मण्डप तना है। उसमें दो बड़े–बड़े ऊँचे आसनों पर वर और कन्या को बिठलाया गया है। मण्डप में एक ओर वर–पक्ष के और दूसरी ओर वधू–पक्ष के लोग बैठे हैं। वर के निकट दो अन्य ऊँचे आसन हैं। एक रत्नपति भोजसेन के लिए और दूसरा महासामंत वीरसेन के लिए। इतने में रथ की गड़गड़ाहट सुनाई दी। थोड़ी देर में महासामंत वीरसेन आए। मण्डप में प्रवेश करते समय उपस्थित जन–समुदाय ने उठकर उनका स्वागत किया।

वर के पिता भोजसेन उठे। उन्होंने म्यान से अपनी तलवार निकाली। उसका मस्तक से स्पर्श किया। फिर उस पर स्वर्ण–मुद्रा रखकर वीरसेन के आगे कर दी। वीरसेन ने मुस्कराकर मुद्रा उठा ली और भोजसेन को अपने गले से लगा लिया।

"परम प्रतापी, महाभट्टारक महाराज चन्द्रगुप्त की जय ! महासामंत वीरसेन की जय ध्वनियों से मण्डप गूँज उठा। सबसे पहले वीरसेन उठे। उन्होंने चन्द्रसेन के माथे पर रोली, अक्षत का तिलक करकें उसके हाथ में पाँच स्वर्ण–मुद्राएँ रख दीं। एक बार फिर उनकी जय ध्वनि गूँजी। चन्द्रसेन ने झुककर उनके चरण–स्पर्श किए। महासामंत ने अपना आसन ग्रहण किया। वधू–पक्ष की ओर से वर–पक्ष का ताम्बूल, इलायची आदि से स्वागत किया गया। फिर वर–पक्ष की ओर से भी यही शिष्टाचार निभाया गया। महिलाएँ मंगल–गीत गा रही थीं। चारुदत्त ने श्रीवर के सिर पर कलाबत्तू की पगड़ी रक्खी और सुभद्र ने उसके गले में मोतियों की माला–एकावली डाल दी। इस विवाह में सुभद्र ने कन्या के अग्रज का सारा उत्तरदायित्व निभाया। वर–पक्ष आश्चर्य से यह देख रहा था कि श्रेष्ठी चारुदत्त के तो दिव्या के अलावा और कोई संतान है ही नहीं, फिर यह विशाल वक्ष और चौड़े कंधों वाला ओजस्वी तरुण कौन है? वर–पक्ष द्वारा कन्या के और वधू–पक्ष द्वारा वर की निछावर में ही काफ़ी समय निकल गया। इसके पश्चात् वर और वधू को भीतर ले जाया गया।

गोपाद्रिगढ़ (ग्वालियर), देशपुर (मन्दसौर), उज्ज्यिनी (उज्जैन) और पद्मावती (पवाया) दूरस्थ मथुरा तक के व्यवसायियों की भेंटों का सिलसिला समाप्त ही नहीं हो रहा था। पारदर्शी, मूल्यवान वस्त्रों तथा वाराणसी की साड़ियाँ थालों में सजी रखी थीं। महीन कपड़े से ढँके रत्नालंकार की चमक से आँखें ही न ठहरती थीं।

विलम्ब होते देख बारात को छतों पर भोजन करने के लिए बैठाल दिया

गया। सुभद्र अत्यधिक व्यस्त था। प्रबन्ध में कोई कमी न रह जाय। कोई आमंत्रित अतिथि, दूर से कोई व्यवसायी बिना भोजन किए लौट न जाय, इस सबकी ज़िम्मेदारी सुभद्र और उसके साथियों पर थी। श्रेष्ठी चारुदत्त और उनकी धर्मपत्नी को आज कन्यादान करना है अतः वे निराहार हैं; लेकिन कोई यह नहीं जानता कि सुभद्र ने भोजन किया है या नहीं। घरात, बरात और सैनिकों को खिलाने के बाद ही अब वह रात्रि के दो बजे अपने मुँह में दो ग्रास डाल रहा है।

सुभद्र को आज अपने पिता भास्कर वर्मा बार–बार याद आ रहे हैं। यदि वो आज संसार में होते तो पितृ–तुल्य चारुदत्त के मन का उत्साह दूना होता। दिव्या के विवाह के कितने सपने संजोये थे, उन्होंने? चारुदत्त सुभद्र को अपना पुत्र–वत् मानते थे और दिव्या तो भास्कर वर्मा की लाड़ली बेटी थी। दोनों पड़ोसी साथ–साथ पले, बड़े हुए, पढ़े। किन्तु दैवदुर्विपाक से भास्कर वर्मा के भाग्य में गृहस्थी का सुख अधिक दिनों तक न था। उनकी पत्नी सुभद्र को जन्म देने के बाद ही इस संसार को छोड़कर चली गई। नगर के लोग कहते हैं कि श्रेष्ठी चारुदत्त की पत्नी रोती हुई, भास्कर वर्मा के घर में गई और नवजात शिशु को अपने कंधे से चिपकाकर ले आई। फिर वह उनसे अलग न हुआ।

भास्कर वर्मा के यहाँ सेवक–सेविकाओं की कमी न थी किन्तु श्रेष्ठि–पत्नी ने ही सुभद्र के लालन–पालन की सारी ज़िम्मेदारी सँभाल ली। इस प्रकार सुभद्र श्रेष्ठी चारुदत्त के घर पर ही रहकर पला, पढ़ा और बड़ा हुआ। कुछ और बड़ा हुआ तो अपने पिता के साथ रहने लगा। फिर भी वह श्रेष्ठी चारुदत्त के परिवार का एक सदस्य बना रहा। भास्कर वर्मा मूर्तिकार थे। वे शिल्पशास्त्र के ग्रंथों और अपने तक्षण–कर्म में खोए रहते। कला भी योगियों जैसी एक जीवन–व्यापी साधना है। भास्कर वर्मा को उपयुक्त शिलाखण्डों के लिए पर्वतीय स्थानों में भी जाना पड़ता था। एक बार वे एक वन की उपत्यका में जा रहे थे तभी उनकी मृत्यु हो गई। किसी विषधर सर्प ने पीछे से आकर उनको चुपके से काट लिया। निकटस्थ गाँववालों ने बहुत यत्न किए, किन्तु उपचार व्यर्थ हुआ। उनके निधन के समाचार से सारा दशार्ण जनपद शोक में डूब गया। सुभद्र के मन पर भी एक गहरी ठेस लगी। उनके अभिन्न मित्र शिल्पी महासेन ने तो तक्षण–कार्य ही छोड़ दिया। वे अपने गाँव में जाकर रहने लगे।

X X X.

उन दिनों यात्रा के साधन रथ थे, इसलिए बारात को मार्ग में ही कई दिन लग जाते थे। विवाहों के मुहूर्त वर्षा ऋतु में न बनते थे। कहा जाता था कि अब

तो शुक्र डूब गए। वस्तुतः मार्ग अवरुद्ध हो जाते थे और दीपावली के पश्चात् ही विवाहों के मुहूर्त बनते। कहा जाता था कि देवगण सो रहे हैं। अब देवठान के बाद ही जागेंगे। बारातें कई दिनों तक रहतीं। थके हुए बाराती, गाड़ीवान, बैल और घोड़े तीन–चार दिन तो विश्राम ही करते। उन दिनों एक और प्रथा थी। कन्या के पिता के मित्र और निकट–सम्बन्धी एक दिन के लिए बारात रोकते थे। उस दिन रात्रि के भोज में वर और वधूपक्ष के लोगों के अतिरिक्त उनके अपने व्यवहार के लोग भी आमंत्रित होते थे। इस प्रकार वह एक बड़ा समारोह हो जाता था। वर के टीका किया जाता था और फिर उसे हमेशा उस घर में जामाता की प्रतिष्ठा मिलती थी। बारात के लिए उन दिनों सबेरे कलेवा भेजा जाता। फिर दोपहर में भोजन की कच्ची सामग्री। बारात केवल रात्रि को कन्या के यहाँ भोजन करने जाती। दोपहर का भोजन बाराती स्वयं बनाते। शाक–सब्जियाँ, आटा, घी, दूध और दही आदि जनवासे में ही भेज दिए जाते। वहाँ बारातियों का इच्छा–भोजन बनता था।

दिव्या के विवाह में मौसम अच्छा था। हल्की–हल्की सर्दी पड़ने लगी थी। सबेरे बाराती बेतवा में स्नान करते और फिर पूजन–अर्चन के पश्चात् पाक–कर्म में लग जाते। भोजन के पश्चात् कुछ विश्राम किया जाता। फिर चौपड़ जम जाती अथवा काव्य एवं संगीत की गोष्ठियाँ चलतीं। सुभद्र अपना अधिक समय चन्द्रसेन के साथ बिताता। दोनों एक–दूसरे के निकट आते जा रहे थे। सुभद्र समझता कि चन्द्रसेन पर ही उसकी बहन दिव्या के जीवन का सुख निर्भर है। मौसम सुहावना था। भोजन के पश्चात् चन्द्रसेन और सुभद्र अपने अश्वों पर बाहर निकल जाते।

काशी अथवा अन्य प्राचीन नगरियों की भाँति विदिशा का गौरवशाली अतीत था। विदिशा से कुछ दूर पर साँची के भव्य–स्तूप तथा अन्य पुरातात्विक अवशेष थे। सुभद्र कलाकार पिता का पुत्र था और स्वभाव से भावनाशील था। वह जब चन्द्रसेन को प्राचीन स्मारकों का इतिहास बतलाता, तब वे खण्डहर और भी सजीव हो उठते। देवालयों की दर्पण कन्याएँ मानो बोलने लगतीं। अपने वैभवपूर्ण दिनों की कथाएँ कहने लगतीं।

विदिशा के पीछे कई सौ वर्ष की कला–परम्परा थी। मौर्यों के पश्चात् शुंगों का शासन–काल आया। महाराज पुष्यमित्र ब्राह्मण थे किन्तु साँची और भरहुत जैसे महास्तूपों का निर्माण भी शुंगों के काल में ही हुआ। शुंग सम्राट् भागभद्र की राजसभा में तक्षशिला का स्नातक हेलियोदोरस राजदूत बना। पश्चिम भारत में सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् कुछ भाग ग्रीकों के आधिपत्य में था। हेलियोदोरस

ने वैष्णव धर्म की विधिवत् दीक्षा ली और मन की गहरी श्रद्धा से अभिभूत होकर विष्णु–मन्दिर के सामने गरुड–शीर्ष स्तम्भ स्थापित कराया था। वस्तुतः शुंग काल के स्तम्भ भी मौर्ययुग के अशोकीय स्तम्भों से अनुप्रेरित थे। सुभद्र और चन्द्रसेन ने आस–पास के कई पुरातात्विक स्मारक देखे। वे पुरानी नगरी बेसनगर भी गए।

द्वाराचार (अगवानी) के दूसरे दिन शाखोच्चार था। उसमें वर और वधू के पूर्व–पुरुषों का नाम आता था; उनका गोत्र और अल्ल भी। शाखोच्चार की प्रथा ब्राह्मण समाज में प्रचलित थी किन्तु उच्चवर्गीय वैश्यों में भी उसका प्रचलन हो चुका था। वे मांस–मदिरा का सेवन त्याज्य मानते थे और अपने गले में यज्ञोपवीत धारण करते थे। शाखोच्चार में वर और वधू दोनों पक्ष के लोग उपस्थित होते। कन्या के द्वार के आगे बने मंडप में कन्या और वधू पक्ष के विद्वान् वेदपाठी ब्राह्मण पहले संस्कृत में मधुर–कंठ से देव–स्तवन करते और फिर यह बतलाते कि वर या कन्या का जन्म किस गोत्र में हुआ है? उसके पिता, पितामह कौन हैं और वह किसका प्रपौत्र है। यह आयोजन समाज के आगे उज्ज्वल वंश–परम्परा का साक्षी है।

बारात आठ दिन तक रुकी। इस अवधि में सुभद्र और चन्द्रसेन अत्यधिक निकट आ गए थे। बारातियों का भाव–भीना आतिथ्य हुआ और विदा होते समय उनको काशी के मूल्यवान उत्तरीय भेंट किए गए। वे पूर्ण रूप से संतुष्ट थे।

बारात के विदा के समय चन्द्रसेन ने सुभद्र को उज्ज्यिनी आने का आमंत्रण दिया–"आप वहाँ अवश्य आइएगा। विशाला नगरी वास्तव में विशाल है। महाकालेश्वर की यह नगरी दूसरी काशी है।" सुभद्र ने उसका आमंत्रण स्वीकार कर लिया। फिर वह कुछ गम्भीर हो गया। उसने चन्द्रसेन की हथेली को अपने हाथ में लेकर कहा,"मेरी एक बात स्मरण रखना। मेरी बहन का हृदय नवनीत जैसा है। वह कठोर बचनों का ताप भी नहीं झेल पाता।" चन्द्रसेन ने अनुभव किया कि सुभद्र के हाथ काँप रहे हैं और नेत्र सजल हैं। चन्द्रसेन ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा,"सुभद्र दादा ! मेरा विश्वास कीजिए। ऐसा अवसर कभी न आएगा।" फिर चन्द्रसेन विदा की औपचारिकताएँ पूरी करने घर में चला गया। दिव्या बारात के साथ सजे हुए रथ में रोती हुई उज्ज्यिनी चली गई।

दिव्या के चले जाने के बाद सुभद्र अपने पिता द्वारा संग्रहीत शिल्प शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन में लग गया। सुभद्र सुन्दर तरुण था। उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली था। उसमें विलक्षण बुद्धि थी। श्रेष्ठी चारुदत्त ही उसके अभिभावक थे। उनके पास ही सुभद्र के विवाह के प्रस्ताव आते। लोग यह जानते थे कि श्रेष्ठी

चारुदत्त और महासामंत वीरसेन में घनिष्ठ मैत्री है और वीरसेन गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के अत्यन्त विश्वासपात्र हैं। चारुदत्त वीरसेन से कहकर सुभद्र को किसी उच्च राजकीय पद पर नियुक्त करा सकते हैं। चारुदत्त चाहते थे कि सुभद्र उनके अपने काम में रुचि ले। उनका हाथ बँटावे परन्तु सुभद्र को श्रेष्ठी चारुदत्त के व्यवसाय में कोई रुचि न थी। स्वभाव से ही वह व्यवसायी नहीं, संवेदनशील प्रकृति का कलाकार था।

इसके अलावा सुभद्र की अनासक्ति का एक और कारण था। वह यह भी जानता था कि मनुष्य के मन में लोभ का जो विषधर अपना फन छिपाए बैठा है, वह मानवीय दुबर्लता के क्षण किसी भी समय अपना फन ऊँचा उठा सकता है ! पितृक चारुदत्त की अगाध सम्पत्ति से उसे क्या लेना–देना? वह तो उसकी छोटी बहन की सम्पत्ति है, जिसकी बात सोचना तक पाप है। उसकी आन्तरिक अभिलाषा यह थी कि उसके आन्तरिक सम्बन्धों का जो सूत्र विधाता ने जोड़ा है, वह दिन प्रतिदिन और भी दृढ़ होता जाय !

सुभद्र अन्तर्मुखी वृत्ति का आदर्शवादी तरुण था। श्रेष्ठी चारुदत्त का भवन किसी राज–प्रासाद जैसा था। उसमें अनेक कक्ष, प्रकोष्ठ और अट्टालिकाएँ थीं। अनेक सेवक–सेविकाएँ थीं। मुख्यद्वार पर दो भालाधारी द्वारपाल दिन और रात की पाली पर रहते। सब कुछ यंत्रवत् था। केवल दिव्या–श्री, वह नन्हीं–सी चिड़िया जो अपने कलरव से भवन गुँजाए रहती थी, चली गई थी।

सुभद्र दादा बिना स्वल्पाहार लिए लौट न जाँय इसका दिव्या को विशेष ध्यान रहता था। एक दिन सुभद्र अपने कक्ष में किसी प्राचीन ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति देख रहा था, तभी दिव्या ने आकर कहा,"दादा ! आज आपको यहीं भोजन करना है।"

सुभद्र ने ग्रन्थ पर से दृष्टि हटाए बिना ही पूछा,"क्यों, माँ ने आज फिर खीर बनाई है?" दिव्या जानती है कि सुभद्र को खीर बहुत अच्छी लगती है। वह मुँह फेर कर हँसी,"आज माँ ने नहीं मैंने खीर बनाई है।"

सुभद्र बोला,"तब तो वह निश्चय ही दिव्य होगी ! सुनो दिव्या ! इस संसार में खीर से श्रेष्ठ भोज्य पदार्थ और कुछ भी नहीं है। सुजाता की खीर ने भगवान् बुद्ध का उपवास तुड़वा दिया।"

दिव्या हँसी,"सुभद्र दादा ! तुमने भी विलक्षण बुद्धि पायी है।"

श्रेष्ठि–पत्नी ने जब दिव्या को जन्म दिया, तब सुभद्र छः वर्ष का बालक था। घर में अनेक सेवक–सेविकाएँ होते हुए भी वह उसे गोद में लिए घूमता। रोती तो

बस सुभद्र के गले से लगकर ही चुप होती। दिव्या को आम के लाल किसलय-सा अँगूठा चूसता देखता तो मन का सारा प्यार उस नन्हीं बालिका पर ही उमड़ पड़ता। जैसे-जैसे वह बड़ी होती गई, वैसे-वैसे सुभद्र से हिलती गई। कौन-सा उसका बाल-हठ था, जिसे सुभद्र ने पूरा नहीं किया? दिव्या श्वसुर-गृह चली गई लेकिन उसका अंतरमन आज भी कहता है,"प्रभु ! मेरी बहिन को सुखी रखना। चन्द्रसेन के मंगल-पथ प्रशस्त करना। बेटी का भाग्य तो दामाद से ही जुड़ा रहता है।"

दिव्या के विदा के बाद भी सुभद्र श्रेष्ठी चारुदत्त के यहाँ जाता है। वहाँ वह श्रेष्ठि-पत्नी के पास कुछ देर बैठकर चला आता है। उनके अतिरिक्त वह अपनी किसी माँ को नहीं जानता। उन्होंने भी उसे सदा अपना औरस पुत्र ही माना है। लीलामय प्रभु की कैसी लीला है? जो अपने-पराए की क्षीण रेखाएँ खींचते हैं, वे मन्दबुद्धि लोग हैं। फिर भी श्रेष्ठी चारुदत्त का घर एक व्यवसायी का घर था। उनकी पत्नी भी बहुधा घर की व्यवस्था में व्यस्त रहतीं। सुभद्र का घर एक मूर्तिकार का **कला-यतन** था। उस पर उसके पिता के व्यक्तित्व की छाप थी। भवन की दीपलक्ष्मियाँ और शालभंजिकाएँ, उनकी छैनी का चमत्कार थीं।

भवन के बाहर प्रांगण में कमलों से भरा हुआ एक सरोवर था। उसमें गोमुख से वर्षा में झरना झरता था। पीले आवेष्ठनों में कितने ही हस्तलिखित ग्रन्थ बँधे रक्खे थे। भास्कर वर्मा एक गम्भीर अध्येता थे और उन्होंने प्रचुर धन व्यय करके प्राचीन शिल्प शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ तैयार कराई थीं। यों घर पर सेवक था। वही सारा काम-काज और घर की सफ़ाई आदि का काम देखता था। घर पर रहता तो सुभद्र को पिता बहुत याद आते।

अब उसने अपना समय देवी के प्रचीन विहार में बिताना प्रारम्भ कर दिया है। भोजन करने के बाद वह अपने घोड़े पर साँची चला जाता। पहाड़ी के ऊपर चढ़ने के लिए सम्राट् अशोक ने पत्थर की सीढ़ियों का एक घुमावदार रास्ता बनवा दिया था। अपने घोड़े को नीचे किसी परिचित किसान के दरवाजे पर बाँधकर सुभद्र स्तूपों तक पहुँच जाता और दिन भर वहाँ बिताकर सूर्यास्त से पहले घर लौट आता।

साँची के तोरणद्वार अद्‌भुत कला-कृति थे। उनके प्रस्तर-फलक शिलाओं में लिखे गए काव्य थे। तत्कालीन नागरिक उनमें उकेरे गए कथांशों से भली-भाँति परिचित थे। वे सहज रूप से बोधगम्य थे। सुभद्र साँची के तोरणद्वारों पर उत्कीर्ण जातक-कथाओं और भगवान् बुद्ध के जीवन-प्रसंगों से परिचित हो गया। लेकिन

आश्चर्य यह था कि सांची के किसी भी स्तूप में भगवान् बुद्ध की आकृति को उकेरा न गया था। उनमें बुद्ध की प्रतिमा के स्थान पर उनके प्रतीक धर्म–चक्र, बोधिवृक्ष, चरण–चिह्न और स्तूप आदि उकेरे गए थे। सुभद्र सोचता, "कैसा है यहाँ का विलक्षण मूर्ति–शिल्प जिसमें राजभवन और सम्पन्न नागरिकों के कई खण्डों से लेकर वन में संन्यासी की कुटिया तक सब कुछ है। वह स्तूपों के अर्द्धगोलाकार अण्ड, उनके ऊपर की देवलोक की प्रतीक हर्मिका और छत्रावली को देखकर उसकी प्रतीकात्मकता के बारे में विचार करता। एक दिन सिंहल के वरिष्ठ भिक्षु बोधानन्द ने बतलाया कि स्तूप के रूप में ब्रह्माण्ड की परिकल्पना ही साकार की गई है।

एक दिन सुभद्र ने अपनी जिज्ञासा उनके सामने रक्खी,"भंते मुझे रामायण की कथा और साँची में उकेरे गए वैसन्तर बोधिसत्व के बनवास में एक साम्य–सा लगता है। श्याम जातक और रामायण की श्रवण कुमार की कथा तो एक जैसी ही है।"

उसका प्रश्न सुनकर भदंत बोधानन्द कुछ गम्भीर हो गए वे बोले–

" अजंता में चित्रित शिविजातक और महाभारत की कपोत के प्राणों को बचाने के लिए महाराज शिवि की प्राणोत्सर्ग की कथा एक ही है। इन सब कथाओं का मूल भारतीय लोक–साहित्य में है। वहीं से यह कथाएँ जातकों में गईं और फिर वे कला के लोक में आईं। इस बात का कोई विशेष महत्त्व नहीं है कि पहले वे बौद्ध जातकों में गईं या हिन्दू महाकाव्यों में।"

बौद्ध साहित्य, दर्शन और कला में सुभद्र की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। भदंत बोधानन्द से वह नियमित रूप से पालिभाषा पढ़ने लगा।

श्रेष्ठी चारुदत्त सुभद्र के अभिभावक थे। वे उसके बारे में चिंतित थे, लेकिन सुभद्र के जीवन की तो धारा ही बदलती जा रही थी। उसे तथागत बुद्ध और उनका अष्टांदिक कार्य प्रिय लगने लगा था।

एक दिन उसने श्रेष्ठी चारुदत्त से कहा, "पितृक ! नगर के सार्थवाहों का एक दल सुदूर दक्षिण जा रहा है। मार्ग में अजंता के कला मण्डप पड़ते हैं। मैं उनको देखना चाहता हूँ। मैं आपकी अनुमति चाहता हूँ।"

श्रेष्ठी चारुदत्त ने उसे अनुमति दे दी और उसकी सारी आर्थिक व्यवस्था भी कर दी।

कई मास की यात्रा के पश्चात् सार्थवाहों के दल के साथ सुभद्र अजंता पहुँच गया। सुभद्र उसे देखकर आश्चर्यचकित रह गया। इतने विशाल, भव्य

कला–मंडप की तो उसने कभी कल्पना भी न की थी। वह तो शिल्पियों की कई पीढ़ियों की कठोर साधना थी। बाघोरा नदी के किनारे पहाड़ी को तिरछा काटकर उन्तीस गुफाएँ निकाली गई थीं। उनमें कुछ भिक्षुओं के रहने के लिए विहार थे और कुछ उनके उपासना–स्थल चैत्य। उनमें भीतर स्तूप बना था। अजन्ता में वास्तु–कला, मूर्तिकला और चित्रकला मानो गले मिली थीं। अजंता की ख्याति विशेष रूप से उसकी दीवालों पर बने हुए भगवान् बुद्ध के जीवन सम्बन्धी चित्र थे। कुछ में जातक–कथाएँ चित्रित की गई थीं। पहाड़ी को काटकर उसमें बड़े–बड़े कमरे और बरामदे निकाले गए थे। उनके भीतर रोशनी केवल बाहर के वातायन से ही जा सकती थी। उन विशाल कक्षों की दीवालों को एक विशेष लेप लगाकर समतल किया गया था। फिर एक रहस्यमय से धूमिल प्रकाश में पतली–पतली किन्तु वेगवती रेखाएँ दौड़ाई गईं थीं। जिन दिनों सुभद्र अजंता पहुँचा उन दिनों दक्षिण में वाकाटक सम्राटों का शासन चल रहा था। वे समकालीन गुप्त सम्राटों के मित्र ही नहीं उनके सम्बन्धी भी थे।

सुभद्र ने अजंता के महाविहार में प्रव्रज्या ग्रहण की और नियमानुसार कुछ दिनों पश्चात् उनको भिक्षु–दीक्षा दे दी गई। उनकी रुचि और अन्तर्वृत्तियाँ चित्रकला की ओर खिंचती चली गईं। उन्होंने खनिज और वनस्पतियों से स्थायी रंग बनाना सीखा। फिर वे कल्पवल्लियों और कमलों के रूपांकन चित्रित करने लगे। इस प्रकार बारह वर्ष का एक युग निकल गया। श्रेष्ठी चारुदत्त ने अपने विश्वस्त सेवकों द्वारा सुभद्र को घर लौटने का संदेशा भेजा लेकिन सुभद्र विदिशा नहीं लौटे तो नहीं ही लौटे। आज भिक्षु सुभद्र की गणना अजंता के वरिष्ठ और यशस्वी चित्रकारों में की जाती है। वे कभी नारी–मुख चित्रित नहीं करते। इसका रहस्य क्या है, यह उनके अलावा और कोई नहीं जानता। वे जब भी स्त्री–मुख बनाना चाहते हैं, किसी भी वर्ग या किसी भी आयु की नारी का तब उनकी तूलिका एक ही मुखाकृति को चित्रित कर देती है और वह मुख उनकी बहन दिव्या का होता है।

संसार त्याग करने के पश्चात्, भिक्षु–दीक्षा लेने के बाद भी सुभद्र अपनी उस बहन दिव्या को नहीं भूल पा रहे। उन्हें जब भी अवकाश मिलता है तब वह उनकी आँखों के आगे आकर खड़ी हो जाती है। एक अस्पष्ट–सी पुकार उनके अन्तर्मन में सुनाई देने लगती है–'सुभद्र दादा !' सुभद्र यह भलीभाँति जानते हैं कि चित्रकार का मन मोह–मुक्त; दर्पण की भाँति स्वच्छ होना चाहिए। लेकिन अपनी चित्तवृत्ति के इस दोष को कैसे दूर किया जाय, यह सुभद्र नहीं जानते?

सुभद्र ने इसी गुफा की भित्ति पर पशु–चित्रण भी किया। उन्होंने जातक–कथाओं में से पितृ–भक्त गज की कथा–वस्तु चुनी। इस जातक में एक हाथी के माता–पिता अंधे हैं। वही नित्य उनके लिए चारा लाता और अपने साथ नदी में नहलाने के लिए ले जाता है।

हाथी बहुत बड़ा और बलिष्ठ है। एक दिन राजा के सेवक उसे वन में घूमते देखते हैं। उन्हें लगता है कि यह गज तो राजा की सवारी के लिए उपयुक्त है। राजा इसे देखेंगे तो प्रसन्न होकर हम लोगों को पुरस्कार देंगे। वे किसी प्रकार हाथी को घेरकर, लोहे की जंजीरों से जकड़कर ले आते हैं। हाथी गज–शाला में पहुँचकर अन्न–जल त्याग देता है। जब राजा को यह समाचार मिलता है तब वे स्वयं उसके पास जाते हैं और उसकी सारी कथा विस्तार से सुनते हैं। उनको लगता है कि यह गज तो बोधिसत्व है। इसे तत्काल अपने अंधे माता–पिता के पास पहुँचा दिया जाय। वे अपने सेवकों को आदेश देते हैं। जिस समय गज़ जंजीरों से जकड़ा जा रहा है। वह बहुत दुःखी और उदास लगता है लेकिन मुक्त होने पर उसमें एक उत्साह है। उसकी चाल में तेजी है। इस जातक को आँकते समय चित्राचार्य सुभद्र ने पशु–प्रकृति, स्वभाव तथा उसके मनोभावों, हर्ष–विषाद, हर्ष और चिन्ता का जो रूपांकन किया था, उसे देखकर सभी आश्चर्य–चकित रह गए थे।

सुभद्र के मन की उद्विग्नता शान्त न हो रही थी। एक दिन अजंता के महास्थविर से अनुमति लेकर व्यापारियों के एक दल के साथ वे उज्ज्यियिनी (उज्जैन) चल दिए।

वे वहाँ क्षिप्रा तट के एक महाविहार में आकर ठहर गए। बौद्ध–पद्धति; विनय के अनुसार उनका स्वागत हुआ। इस लम्बे अंतराल में चन्द्रसेन के पिता भोजसेन का निधन हो गया था और चन्द्रसेन ही अपना रत्नों का पैतृक व्यवसाय सँभाल रहे थे। उज्ज्यियिनी में उनका विशेष सम्मान था। उनका राज–प्रासाद जैसा भव्य भवन भला कौन नहीं जानता? चित्राचार्य सुभद्र ने अपने साथ विहार का एक किशोर श्रामणेर ले लिया। फिर उसे वापस भेज दिया। सुभद्र का व्यक्तित्व तो प्रारम्भ से ही प्रभावशाली था। समय ने उसमें एक गरिमा भी भर दी थी।

द्वारपाल ने भवन में जाकर चन्द्रसेन को सूचना दी–"द्वार पर एक महाश्रमण आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। वे आपसे मिलना चाहते हैं।"

"उनको आदर सहित बिठाओ। मैं अभी आ रहा हूँ।" चन्द्रसेन ने कन्धे पर

उत्तरीय डाला और वे स्वागत–कक्ष में आ गए। सुभद्र को भिक्षु–वेश में देखकर चन्द्रसेन सहसा उनको पहचान ही न सके। बीच में एक युग की कालावधि थी। अचानक चन्द्रसेन के मन में एक बिजली–सी कौंध गई,"सुभद्र दादा, आप?" "मैं ही हूँ चन्द्रसेन। तुम्हें दिया हुआ अपना वचन पूरा करने उज्ज्यियिनी आया हूँ।" अतीत वर्तमान बनकर सामने आ गया। चन्द्रसेन की इच्छा हुई कि वे सुभद्र को अपनी भुजाओं में भर लें किन्तु अब वे संसार त्यागी पूज्यनीय व्यक्ति थे। चन्द्रसेन ने गले में उत्तरीय लपेट कर उन्हें प्रणाम किया।

"भगवान् तथागत आपका कल्याण करें।" सुभद्र ने आशीष दी। "मैं धन्य हुआ। आपकी चरण–रज से यह आवास पवित्र हुआ।" चन्द्रसेन ने विनत भाव से कहा।

"आर्य चन्द्रसेन आप मेरे मित्र हैं। सम्बन्धी तो हैं ही। आज मैं आपसे मन की बात कहूँगा।"

चन्द्रसेन उत्सुकता से उनके मुख की ओर देखने लगे। सुभद्र बोले,"मैं भगवान् बुद्ध के सद्धर्म में दीक्षित हुआ। त्रिरत्न की शरण में गया। मुझे 'बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' की मैत्री भावना को आत्म–सात् कर लेना चाहिए था। किन्तु मेरे मन में एक मानवीय दुर्बलता शेष रह गई। जैसे काँटा निकल जाता है, उसकी पीड़ा बनी रहती है। जो भगवान् बुद्ध के मानव–धर्म की दीक्षा लेते हैं, वे सर्वजनीन हो जाते हैं किन्तु मैं अपनी आँखों से आप लोगों का; आत्मीयों का सुख देखना चाहता था।"

"इसमें आश्चर्य की क्या बात है? मूल रूप से तो आप एक संवेदनशील कलाकार हैं। इस पक्ष को आप कैसे भूल गए?" चन्द्रसेन ने कहा। फिर वे अंतःपुर की ओर मुड़े। उन्होंने ज़ोर से कहा,"भद्रे ! देखो तो सही, यह कौन आये हैं?" दिव्या कक्ष के बाहर आई। वे सुभद्र को देखती ही रह गईं। कुछ स्थूल सी देह, शरीर पर पीत वस्त्र, मुण्डित मस्तक किन्तु मुख पर एक दीप्ति लिए चित्राचार्य सुभद्र खड़े थे। ओंठों पर एक आनन्दमय स्मित था। दिव्या उन्हें देर तक खड़ी देखती रहीं। फिर उन्होंने कक्ष के एक खम्भे पर सिर टिका लिया और देर तक सिसकती रहीं। सुभद्र ने दिव्या की ओर देखा। जिसे उन्होंने अल्हड़ किशोरी के रूप में छोड़ा था, अब वह एक तेजोमयी नारी है। गरिमा से पूर्ण।

कुछ देर बाद दिव्या ने अपना सिर उठाया। दुपट्टे से अपनी आँखें पोंछी। फिर पूछा,"दादा ! विदिशा गए थे क्या?"

"नहीं।" सुभद्र ने एक शब्द में उत्तर दिया।

"क्यों? माँ की दृष्टि का सामना करने का साहस न हुआ ! पिताश्री असमय में वृद्ध हो गए हैं। माँ कभी–कभी तुम्हारे लिए फूट–फूटकर रोती हैं।" वह फिर सिसकने लगी,"आख़िर हम सब के सुख स्वप्नों को धूल में मिलाकर आपको क्या मिला, सुभद्र दादा?"

सुभद्र ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे सिर झुकाए खड़े रहे। चन्द्रसेन ने स्थिति को सँभाला,"भद्रे ! विवेकशील व्यक्ति बीती हुई बातों पर न क्रोध करते हैं और न उन पर पश्चात्ताप ही करते हैं। यह तो प्रारम्भ से ही निवृत्तिमार्गी रहे हैं। इन्होंने पथ नहीं चुना, पथ ने ही इन्हें चुना है। अब तो यह अपने मार्ग पर इतना बढ़ चुके हैं कि अब न उस पर से लौटना सम्भव है और न श्रेयस्कर।" लगा कि बात बिगड़ी और फिर सुधर गई।

दस वर्ष का बालक अमित अपनी माँ के पास खड़ा था। चन्द्रसेन ने उसे अपने पास बुलाया–"अरे ! अमित, यहाँ तो आओ, देखो यह तुम्हारे मातुल आए हैं।" अमित को लगा कि "आज तक तो किसी ने यह नहीं कहा कि मेरे कोई मामा भी हैं। लेकिन माँ इन्हें देखकर रोई क्यों? भिक्षु वेश में मातुल?"

चन्द्रसेन के कहने पर अमित झिझकता हुआ सुभद्र के पास गया। सुभद्र उसके सिर पर देर तक प्यार से हाथ फेरते रहे। फिर उन्होंने बगल में रक्खी थैली में हाथ डाला। उन्होंने उसमें से मोतियों की एक माला निकालकर उसे अमित के गले में डाल दिया। दिव्या इस एकावली को अपने बचपन से ही जानती है। यह तो वही माला है, जिसे उदयगिरि की महावराह की मूर्ति के अनावरण के पश्चात् स्वयं महाराज चन्द्रगुप्त ने प्रसन्न होकर पितृव्य भास्कर वर्मा के गले में पुरस्कार–रूप पहनाई थी और सारा सभा–मण्डप 'जय–जय' की ध्वनि से गूँज उठा था। चन्द्रसेन एक जाने–माने जौहरी थे। वे देर तक उस माला को देखते रहे। फिर उन्होंने माला के मोती के एक दाने को उठाया, वे उत्तेजित होकर बोले, "मुझे क्षमा करें। मैं इस माला को स्वीकार नहीं कर सकता। यह महामूल्यवान है। पाटलिपुत्र, मथुरा, उज्ज्यिनी, काशी या सुदूर काँची में भी ऐसा कोई जौहरी नहीं है जो अकेले इसका मूल्य चुका सके। यह तो सिंहल के मोतियों की अद्भुत माला है।" सुभद्र धीरे से मुस्कराए– फिर बोले–

"पिता की निधि पर उसके पुत्र का स्वाभाविक रूप से अधिकार होता है किन्तु यदि पुत्र मुझ जैसा निकल जाय तो? फिर पितामह या मातामह की चल अथवा अचल सम्पत्ति का अधिकारी उसका पौत्र अथवा दौहित्र ही होता है। अमित, रत्नपति भोजसेन, श्रेष्ठी चारुदत्त और महाशिल्पी भास्कर वर्मा का

एकमात्र उत्तराधिकारी है। चन्द्रसेन उसे उसके अधिकार से वंचित करना न्याय नहीं होगा।''

चित्राचार्य सुभद्र के स्वर में एक आदेश था। चन्द्रसेन ने निरुत्तर होकर सिर झुका लिया।

विनय; बौद्ध नियमों के अनुसार बौद्ध भिक्षु पेय पदार्थों या फलों के अतिरिक्त मध्याह्न के भोजन के पश्चात् कुछ ग्रहण नहीं करते। दिव्या ने आकर कहा,''आज तो मैं बहुत दिनों के बाद खीर बना रही हूँ। कभी किसी और की बनाई खीर खाने बैठी तो दो कौर से अधिक खा ही न सकी। लगता था कि जैसे तुम सामने बैठे हो।''

दिव्या खीर बनाने चली गई। वस्तु का अपना स्वाद नहीं होता। बनाने वाले के मन की भावना ही उसे स्वादिष्ट बनाती है।

भोजन के उपरान्त सुभद्र और चन्द्रसेन कुछ देर तक बातचीत करते रहे। चित्राचार्य सुभद्र चन्द्रसेन को अजंता के बारे में बतला रहे थे। फिर वे उठे और उन्होंने लेखनी और मसिपात्र लाने को कहा। उसके आ जाने के पश्चात् सुभद्र ने अपनी थैली में से एक खरीता निकाला। इस शासकीय आदेश–पत्र में उस भूमि का उल्लेख किया गया था जिसे स्वयं गुप्त सम्राट् ने उदयगिरि के मूर्ति–शिल्प पर प्रसन्न होकर भास्कर वर्मा को भेंट किया था।

सुभद्र ने उसके नीचे कुछ और पंक्तियाँ जोड़ दीं।

''मैं शिल्पाचार्य भास्कर वर्मा का पुत्र भिक्षु सुभद्र, विदिशा के नगर-श्रेष्ठी चारुदत्त की पुत्री और अपनी भगिनी तुल्या सौभाग्यवती श्रीमती दिव्या-श्री को अपने पितृ-श्री का भवन्न 'कला-यतन' और मगधराज्य से प्राप्त जागीर सादर भेंट करता हूँ। वह उनके परिवार की सम्पत्ति रहेगी किन्तु वे अथवा उनका वंशज किसी अन्य को बेच न सकेगा।''

हस्ताक्षर

(भिक्षु सुभद्र)

साक्षी के रूप में चन्द्रसेन के हस्ताक्षर लेने के लिए आचार्य सुभद्र ने खरीता उनकी ओर बढ़ा दिया। चन्द्रसेन उसे देखकर चौंक पड़े,''यह सब क्या हो रहा है? मैं कुछ भी नहीं समझ पा रहा हूँ।''दिव्या ने खरीता उनके हाथ से ले लिया। उसने उसे पूरा पढ़ा। फिर गम्भीर स्वर में बोली,''मैं सब कुछ समझ रही हूँ और मैं इसे स्वीकार भी कर रही हूँ। मुझे केवल एक शब्द पर आपत्ति हैं। मैं आचार्य सुभद्र की भगिनी तुल्या नहीं, भगिनी ही हूँ।''

चन्द्रसेन विस्मय से अपनी पत्नी की ओर देखने लगे। दिव्या ने सारी स्थिति स्पष्ट की–

"पिताश्री सुभद्र दादा की जागीर का लगान प्रतिवर्ष राजकोष में जमा कर रहे हैं और शेष निधि एक अलग कोष में। अब तक विगत् बारह वर्ष में यह निधि भी काफ़ी बड़ी हो चुकी है। महासामंत वीरसेन पिता के अच्छे मित्र हैं। वे उनसे कई बार कह चुके हैं कि यदि सुभद्र लौटकर विदिशा नहीं आते तो उत्तराधिकारी के अभाव में उनका भवन और उनकी जागीर राज्य की सम्पत्ति मानी जायेगी।"

"तुम्हारे नाम हो जाने पर क्या यह बच जायेगा? क्या राज्य इसे स्वीकार करेगा?" चन्द्रसेन ने आपत्ति की।

"अभी इसकी सम्भावना है। यदि इस पद पर वीरसेन के अतिरिक्त कोई अन्य अधिकारी आ गया तो यह कार्य असम्भव हो जायेगा।" दिव्या बोली।

चित्राचार्य सुभद्र और रत्नपति चन्द्रसेन उसकी बात को ध्यान से सुन रहे थे। इस दृष्टि से उन्होंने कभी सोचा भी न था। दिव्या की बात में वज़न था। दिव्या अपनी बात कहती जा रही थी–

"सुभद्र दादा की संचित निधि से पिताजी का एक पाठशाला खोलने का विचार है। मेरे मन में ललित–कलाओं की शिक्षण–संस्था खोलने का विचार आया है। मैं अपनी इस योजना को मूर्त–रूप देने का प्रयास करूँगी।" फिर वह सुभद्र की ओर मुड़ी,"दादा, शिल्पी महासेन को तो आप भूले न होंगे।"

"कौन महासेन; जो पिता के मित्र और सहयोगी रहे हैं?" सुभद्र ने कहा।

"जी हाँ, वही। सम्पूर्ण दशार्ण जनपद में उनसे बड़ा शिल्पकार कोई नहीं हैं।" दिव्या ने कहा,"पितृल्य भास्कर वर्मा के निधन के पश्चात् वे अपने पैत्रिक गाँव में ही रह रहे हैं। मेरे मन में 'कला–यतन' की कल्पना कला की शिक्षण संस्था के रूप में जाग उठी है। सुभद्र दादा का भवन उसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त स्थान रहेगा। हमें नया भवन बनाने की आवश्यकता न होगी। संस्था के प्राचार्य पद के लिए महासेन से उपयुक्त और कौन हो सकता है? मैं स्वयं उनके गाँव जाकर उनके पैर पकड़ लूँगी। मैं विदिशा की बेटी हूँ और दशार्ण जनपद के सारे लोग मुझे जानते हैं। मेरे अनुरोध को कोई नहीं टालेगा। अर्थ की समस्या हम लोग मिलकर हल कर लेंगे। जनपद में कितने मेधावी छात्र हैं जो आर्थिक समस्याओं के कारण अपनी कला–शिक्षा प्रारम्भ ही नहीं कर पाते। हम उनको सहारा देंगे।"

अपनी योजना को लेकर दिव्या बहुत उत्साहित थी।

चित्राचार्य सुभद्र ने उसी दिन उन लोगों से विदा ली। व्यापारियों का

सार्थवाह दूसरे दिन सबेरे ही जा रहा था। चन्द्रसेन, दिव्या और अमित अपने रथ में उनको विहार तक पहुँचा आए। उन्होंने कुछ समय पश्चात् विदिशा जाने की बात भी कही। इस समय तो सार्थवाह के लौटने के कारण विदिशा जाने का अवसर ही न था।

अपनी योजना को लिखित रूप देकर दिव्या और चन्द्रसेन विदिशा गए। श्रेष्ठी चारुदत्त का संदेश पाकर शिल्पी महासेन भी वहाँ आ गए। महासामंत वीरसेन के कक्ष में इस विषय पर विचार–विनिमय हुआ। श्रेष्ठी चारुदत्त भी उपस्थित थे। वीरसेन ने अपनी सम्मति प्रकट की–

"यह जागीर और वह भूमि जिस पर शिल्पी भास्कर वर्मा ने अपने भवन का निर्माण कराया, स्वयं सम्राट् द्वारा उनको पुरस्कार में दी गई सम्पत्ति है। मेरा अपना विचार यह है कि इसके स्थानान्तरण के लिए स्वयं सम्राट् की अनुमति अपेक्षित है। मैं इसी मास में पाटलिपुत्र जा रहा हूँ। सम्राट् उज्ज्यिनी को राजधानी बनाने पर विचार कर रहे हैं। यदि ऐसा हुआ तो सम्भव है कि मेरी नियुक्ति भी वहीं हो जाय। मैं बेटी दिव्या की यह योजना स्वयं महामहिम सम्राट् की सेवा में प्रस्तुत करूँगा और इस सम्बन्ध में उनका विचार जानने का प्रयत्न करूँगा।"

दिव्या की योजना के साथ ही श्रेष्ठी चारुदत्त का निवेदन भी संलग्न था। सुभद्र की पिछले वर्षों में जो आय हुई है, उतनी ही और मिलाकर वे 'कला–यतन' के लिए एक छात्रावास बनाना चाहते हैं, यह उन्होंने अपने आवेदन में स्वीकार किया था। दिव्या ने स्वयं महामहिम सम्राट् से इस नवोदित संस्था का संरक्षकत्व स्वीकार करने की और अध्यक्ष पद पर महासामंत वीरसेन को मनोनीत करने की प्रार्थना की थी।

अपने पूर्व–निश्चित कार्यक्रम के अनुसार अपने अंगरक्षकों को साथ लेकर महासामंत वीरसेन पाटलिपुत्र चले गए। मार्ग में वे संगम में स्नान करने के लिए प्रयाग और भगवान् विश्वनाथ के दर्शनों के लिए काशी भी रुके।

अपनी राजमंत्रणा के पश्चात् एक दिन अनुकूल अवसर देखकर सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के समक्ष दिव्या का आवेदन–पत्र प्रस्तुत कर दिया। उसके साथ ही श्रेष्ठी चारुदत्त का प्रार्थना–पत्र भी संलग्न था। सम्राट् ने उसे रख लिया। चार–पाँच दिन बाद उन्होंने वीरसेन को बुलाकर अपनी सम्मति व्यक्त की–

"मैंने सारी योजना को देख लिया है और उस पर अपनी स्वीकृति की मुद्रा भी लगवा दी है। उसमें मैंने कुछ सुझाव भी दिए हैं। वस्तुतः यह कार्य व्यक्तियों का नहीं राज्य का है। श्रेष्ठी चारुदत्त, चित्राचार्य सुभद्र और दिव्या के लिए मेरे मन में एक आदर–भाव है। संस्था का संरक्षकत्व मुझे स्वीकार है और मैं महासामंत

वीरसेन को उसकी समिति का अध्यक्ष और आयुष्मती दिव्या को उसकी सचिव–सदस्या मनोनीत करता हूँ। श्रेष्ठी चारुदत्त जहाँ भी उचित समझें अपने छात्रावास का निर्माण करा लें और इसकी सूचना शासन को दे दें। जागीर की या किसी भी व्यक्ति की उदार आर्थिक सहायता संस्था के लिए पर्याप्त नहीं है। कभी वर्षा की कमी भी हो सकती है। छात्रों के आवास, भोजनादि की सारी व्यवस्था राज्य वहन करेगा और प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति प्रदान करने की व्यवस्था भी रहेगी। इस संस्था के लिए वरिष्ठ नागरिकों की एक समिति भी गठित करना होगा। इस संस्था का नाम 'महाशिल्पी भास्कर वर्मा स्मारक कला–यतन' रहेगा।"

चित्राचार्य सुभद्र के सम्बन्ध में सम्राट् ने कहा कि वे एक आदरणीय भिक्षु हैं। मैं उनको आदेश तो नहीं दे सकता, उनसे निवेदन अवश्य कर सकता हूँ। अब जब उनकी मातृभूमि को उनकी आवश्यकता है, उनको विदिशा लौट आना चाहिए। संस्था का भार और मूर्तिकला विभाग तो शिल्पी महासेन सँभाल लेंगे लेकिन चित्रकला का विभाग तो उन्हीं को सँभालना है। संस्था में हाथीदाँत के मूर्ति–शिल्प का एक स्वतंत्र विभाग होगा। उसके शिक्षण आदि की व्यवस्था श्रेष्ठी चारुदत्त की सम्मति से होगी। जैसा भी वे उचित समझें।" उन्होंने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा–

"आचार्य सुभद्र वेतन तो नहीं लेंगे किन्तु उनके तथा महाशिल्पी महासेन के लिए संस्था का नैतिक कर्त्तव्य होगा कि वह उनको एक मानद राशि प्रदान करे। यह सब समिति पर निर्भर करता है। चित्राचार्य सुभद्र को चारुदत्त और उनकी पत्नी ने पुत्र–वत् पाला है– कई वर्षों तक; उनके वयस्क होने तक। वे दोनों वृद्ध होते जा रहे हैं। सुभद्र का उनके व्यापार से भले ही सम्बन्ध न हो किन्तु यदि वे विदिशा लौट आते हैं तो उन दोनों के मन को एक संतुष्टि मिलेगी। यह चित्राचार्य सुभद्र का नैतिक कर्त्तव्य भी है।"

महासामंत वीरसेन ने श्रेष्ठी चारुदत्त को सम्राट् के विचारों और सुझावों से अदगत करा दिया। श्रेष्ठी चारुदत्त ने यह अनुभव किया कि महामहिम सम्राट् ने दिव्या की सारी योजना को सहानुभूतिपूर्वक देखा है और उस पर विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। दिव्या को उज्ज्यियिनी और चित्राचार्य सुभद्र को पत्र लेकर सेवक अजंता भेज दिए गए।

दिव्या को उससे बहुत प्रसन्नता हुई। जो संदेशवाहक अजंता भेजा गया था, उसने आकर सूचना दी कि आचार्य सुभद्र ने अपनी जन्मभूमि की पुकार को अनसुना नहीं किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की इच्छा को ससम्मान स्वीकार

करके उन्होंने विदिशा लौटकर 'कला–यतन' में अपने अध्यापन की स्वीकृति दे दी है। श्रेष्ठी चारुदत्त और उनकी पत्नी को मानो अपनी खोई हुई निधि मिल गई। शिल्पी महासेन विदिशा आ गए और अपनी स्मृति से अपने मित्र भास्कर वर्मा की आवक्ष मूर्ति गढ़ने में लग गए। छात्रावास का निर्माण प्रारम्भ हो गया। चारों ओर समाचार फैल गया कि नए सत्र से विदिशा में ललित–कला महाविद्यालय प्रारम्भ हो रहा है।

x x x

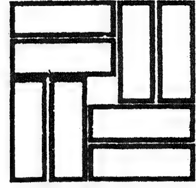
आचार्य सुभद्र उज्ज्यियिनी से लौटकर अजंता गए। उनके मन की सारी उद्विग्नता शांत हो चुकी थी। वे अपनी बहन दिव्या का सुख–वैभव अपनी आँखों से देख आए थे। मन में बरसों से जो काँटा कसक रहा था, वह निकल चुका था। वे किसी योगी की भाँति अपने पूरे मनोयोग से अजंता में एक चित्र तैयार करने में लग गए। भित्तिचित्र काफ़ी विशाल था। सुभद्र संसार के माया–मोह से ऊपर उठ गए थे। उन्होंने इस चित्र में भगवान् बुद्ध का कपिलवस्तु आगमन आँका। मानवाकार से भी बड़े तथागत अत्यंत शान्त मुद्रा में खड़े देवि यशोधरा को 'चन्द्रकिन्नर' की कथा सुना रहे हैं। भित्ति–चित्र में अपेक्षाकृत छोटे आकार में राहुल और उसकी जननी प्रदर्शित किए गए हैं। माँ के कहने पर राहुल बुद्धदेव से अपना पितृदेय माँग रहा है। मानिनी यशोधरा नहीं गई। स्वयं भगवान् बुद्ध को ही उनके पास राज–प्रासाद में आना पड़ा। तथागत ने यशोधरा को चन्द्रकिन्नर जातक सुनाया।

आश्चर्य ! इस चित्र में सुभद्र ने पहली बार नारी की ऐसी मुखाकृति आँकी है जो दिव्या की नहीं है। कलाकार का वह दोष जो वर्षों से उसका मनोमंथन कर रहा था, नष्ट हो चुका है। यह चित्र अजंता की श्रेष्ठतम कला–कृतियों में गिना जाता है। चित्र में श्रद्धामयी करुणा की जो अजस्र धारा बह रही है, वही उसकी प्राण–भावना है।

x x x

संसार में सब नश्वर, नाशवान है। अजंता के चित्रकार कौन थे, यह कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता। कोई उनके नाम तक नहीं जानता। श्रेष्ठी चारुदत्त, उनकी पुत्री दिव्या और चित्राचार्य सुभद्र और कला–यतन किस विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गए यह कोई नहीं जानता। कलाकार का शरीर नश्वर है किन्तु उसकी कृति कितनी शताब्दियों तक चलेगी, भला यह कौन कह सका है?





दीदी

(अहमदाबाद 'गुजरात' की आँखों देखी सत्यकथा)

दीदी आती हैं। दरवाज़ा खुलते ही ऐसा लगता है मानो ताज़ी हवा का एक झोंका भीतर घुस आया है।

दीदी आती हैं, ओठों पर एक मुस्कराहट बिखेरे, हँसती सी आँखें लिए।

माँ पूछती हैं, "कैम छौ (कैसी हो)" "साखा (अच्छी हूँ)" दीदी धीरे से कहती हैं।

दीदी मेरी बहन नहीं हैं। वे मुझे पढ़ाने आती हैं। लेकिन मुझे उनसे छोटी बहन का प्यार ही मिलता है।

अनवर काका (ड्रायवर) उन्हें मोटर से लेने जाते हैं और वे ही उनको छोड़ने। पहले दिन जब वे आई तब मैं बँगले के पोर्च में खड़ी उनकी राह ही देख रही थी। मोटर रुकते ही मैं दौड़कर उनके पास गई। अनवर काका ने, अपने हाथ से मोटर का दरवाजा खोला और दीदी को वैसे ही सैल्यूट किया जैसे कि वे पापा को करते हैं। दीदी उनको मना कर रही थी, "नहीं नहीं, यह नहीं। आप मुझसे बहुत बड़े हैं। मुझे अपनी बेटी ही समझिए" और अनवर काका ने दोनों हाथ जोड़ दिये थे। लेकिन मोटर का दरवाजा दौड़कर अब भी वे ही खोलते हैं।

दीदी किसी मन्दिर की सुन्दर मूरत–सी गोरी–सी, मेरे गालों को थपथपा कर, मेरी उँगली पकड़कर बँगले में घुसीं। भीतर आँगन में जाकर उन्होंने माँ को प्रणाम किया,"आन्टी !" लेकिन माँ ने आगे बढ़कर उनके दोनों हाथ थाम लिए,"मैं तुम्हारी आन्टी नहीं, माँ हूँ, इसकी जैसी ही।" उन्होंने कहा।

दीदी की आँखें भर आई, "क्या मैं इतना प्यार समेट सकूँगी, माँ?" और माँ

ने उन्हें अपनी दोनों बाहों में भर लिया।

घर में दीदी का नाम कोई नहीं लेता। बस पापा और माँ उन्हें "सौम्या" कहते हैं। दीदी रोज़ सबेरे साढ़े सात बजे आ जाती हैं। तब तक हम सब पापा, माँ, मैं और बबलू चाय की मेज़ पर उनका इंतज़ार करते हैं।

बबलू मुकुल अभी बहुत छोटा है। अभी वह पढ़ता नहीं बस खेलता है और सोता है। माँ दीदी की बाँह पकड़कर उनको अपने पास की कुर्सी पर बिठलाती हैं और दीदी कितना ही मना क्यों न करें, माँ चाय के साथ ज़िद करके उन्हें नमकीन मठरियाँ या बिस्कुट खिलाती ही हैं।

थोड़े ही दिनों में दीदी हमारे घर जैसी हो गई हैं। वे मुझे कभी डाँटती नहीं, बस प्यार से समझा देती हैं। फिर भी मेरे नम्बर पहले से बहुत अच्छे आए हैं। मैं अपनी कक्षा में दूसरे नम्बर पर आ गई हूँ। रविवार को दीदी की छुट्टी रहती है लेकिन वे उस दिन भी आती हैं और कुछ ज़्यादह ही रुकती हैं। उस दिन वे मुझे पढ़ाती नहीं। बस, बबलू के साथ खेलती हैं। माँ के कामों में हिस्सा बँटाती हैं। दीदी का बनाया आम का मुरब्बा बबलू को बहुत पसन्द है। उस दिन वे मुझे अच्छी–अच्छी कहानियाँ सुनाती हैं; उड़नेवाले घोड़े की; भालू बन जाने वाले राजकुमार की और ऐसी ही बहुत सी। एक दिन मैं उनके घर जाऊँगी और उनकी माताजी से और भी कहानियाँ सुनकर आऊँगी।

उस कमरे में बड़ी–सी तस्वीर लगी है न; बर्फ़–सी सफेद दाढ़ी, बड़ी–बड़ी आँखें और चौड़ा माथा। माँ ने इस चित्र को चंदन की माला पहना दी है। एक दिन मैंने उनसे पूछा,"माँ, यह बूढ़े बाबा कौन हैं?" माँ ने अपने दोनों हाथ जोड़कर कहा,"यह मेरे गुरुदेव हैं। मेरे और तुम्हारे ही नहीं सारे भारत देश के गुरुदेव। इनका नाम है श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर ! इन्हीं के शान्तिनिकेतन में ही तो मैं पढ़ी हूँ। तुम अपने स्कूल में जो 'जन गण मन' गाती हो वह इन्हीं का लिखा हुआ है।"

फिर माँ ने एक दिन उनकी लिखी एक पुस्तक मेरे हाथ में दे दी, 'शिशु भोलानाथ'। तो इतने बड़े कवि ठाकुर बाबा भी हम बच्चों के लिए किताबें लिखते थे? मुझे बहुत अच्छा लगा। हमारे घर में इस चित्र का देवताओं जैसा आदर है। दीदी भी जब कभी इस कमरे में जाती हैं तो गुरुदेव के चित्र को हाथ जोड़कर प्रणाम करती हैं।

एक दिन माँ ने दीदी को एक बन्द लिफाफा दिया। मैं घबरा गई,"माँ ने उन्हें चिट्ठी क्यों दी? क्या बात थी जो माँ अपने मुँह से नहीं कहना चाहती थीं?" मेरी घबराहट देखकर दीदी हँसीं,"गुड़िया, स्कूल जाते समय माँ तुम्हें रोज़ पैसे देती हैं और मुझे महीने में एक बार। बड़ी हूँ न !"

एक दिन दीदी घर जा चुकी थीं। तब पापा ने मुझे चिढ़ाने के लिए कहा,''बाजे बजेंगे। आतिशबाजियाँ छूटेंगी। दूल्हा राजा घोड़े पर सवार होकर आयेंगे और इसकी दीदी आँसू पोंछती हुई ससुराल चली जायेगी।''

मैं अनमनी हो गई। दीदी हमेशा हमारे पास नहीं रहेंगी। यह तो मैंने कभी सोचा भी न था। तभी माँ ने मेरी ठोढ़ी ऊपर उठाते हुए कहा,''नहीं रे, मैं अपनी सौम्या को कहीं न जाने दूँगी। उसका रिश्ता तो मैंने सुबोध से पक्का कर लिया है। सौम्या की माँ से भी मैं मिल आई हूँ। वे राज़ी हैं। हाथ आए हीरे को भला कोई छोड़ता है?'' माँ की बात सुनकर पापा चौंके। माँ मुस्कराईं। बोलीं,''मैं आपको 'सरप्राइज़' देना चाहती थी।''

पापा बोले, ''नलिनी ! आज मुझे जितनी खुशी मिली है, उतनी कई सालों में कभी नहीं मिली। यह लड़की सौम्या, उन गिरधारीलाल मेहता की अकेली संतान है, जिन्होंने इस दफ़्तर में मुझे नौकरी दी थी। उन दिनों मैं बेकार था और नौकरी की खोज में एक दफ़्तर से दूसरे दफ़्तर तक भटक रहा था। तब हमारा विवाह भी नहीं हुआ था। इस लड़की की माँ बड़ी स्वाभिमानी है। पति के 'हार्ट अटैक' के बाद सब दिन देखे लेकिन झुकी नहीं। मैं जब सब तरह से कोशिश करके हार गया तब वे बड़ी मुश्किल से गुड़िया को पढ़ाने की बात पर राज़ी हुईं। लड़की की नौकरी के पक्ष में वे थीं नहीं वरना मेरे दफ़्तर में ही कई जगहें खाली हुईं। आज तुमने मुझे उबार लिया। वे पेन्शन पर ही घर चलाती हैं। सौम्या के पैसे वे बैंक में जमा करती हैं, लेकिन क्या होता है, उन पैसों से? दहेज़ के भूखे हृदयहीन समाज के आगे कहाँ जायेगी यह मासूम लड़की? इसकी माँ से कहना कि मेरे रहते वे इसके विवाह की कोई चिंता न करें। नलिनी, तुम अपने पिताजी और सुबोध को मेरी ओर से आज ही पत्र लिख दो। हम इस विवाह को आगे नहीं बढ़ायेंगे। इन जाड़ों में ही सौम्या के हाथ पीले कर देंगे।''

माँ चौंकीं। फिर मुस्कराईं। उनके लिए यह एक नई बात, एक 'सरप्राइज़' था। सुबोध मेरे मामा हैं। माँ और सुबोध दो ही तो भाई–बहन हैं। सुबोध मामा दीदी जैसे ही गोरे, हँसमुख लेकिन बहुत परिश्रमी हैं। यहाँ के मैडिकल कालेज से ही डॉक्टरी पास करके उन्होंने बम्बई में अपनी प्रैक्टिस शुरू की है। जब तक तो वे यहीं मेरे घर पर ही रहते थे। मुझे इतना प्यार करते हैं कि कुछ पूछो मत।

मेरे कानों में शहनाई बज रही थी। बस, कुछ दिन के बाद दीदी मेरी मामी होंगी। तब मैं उनसे पढ़ूँगी नहीं। उनके गले में बाहें डालकर झूलूँगी; खूब झूलूँगी।

□ □

परिचय



जगदीशचन्द्र चतुर्वेदी भारतीय कला और संस्कृति को पूर्ण रूप से समर्पित कला-इतिहासकार हैं। उनका जन्म सन् 1921 में मैनपुरी के एक प्रतिष्ठित ज़मीदार परिवार में हुआ। उनका 50 पुस्तकों (32 प्रकाशित और 18 अप्रकाशित का लेखन आधी शताब्दी 1950 से 2000 ई0 की व्यापक परिधि घेरे है। अपने कृतित्व का श्रेय वे अपने प्रेरणा प्रदान करने वाले आचार्यों को देते हैं। पूज्य गुरुवर **पं0 धनपतराय चतुर्वेदी**, मैनपुरी उंगली पकड़ कर उन्हें इतिहास देवता के मन्दिर में ले गए और देवदर्शन कर प्रसाद दिया। **डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल** ने आलोकित अंधेरे मन को कला की प्रकाश-राशियों से आलोकित किया, **भदंत आनन्द कौसल्यायन** ने तथागत के उदात्त विचारों को हृदयंगम कराया और **कविश्री गजानन माधव मुक्तिबोध** के नागपुर के 6 वर्षों के सतत् सानिध्य ने तो मानो मानवीय संवेदनशीलता के रंग में आपाद-मस्तक रंग ही डाला।

जगदीश चन्द्र चतुर्वेदी भारत सरकार की संग्रहालय विकास की योजना के अन्तर्गत संगरिया (राजस्थान) के ग्रामोत्थान विद्यापीठ के संग्रहालय में अध्यक्ष रहे। 'कला के पद्म' उसका विवरण-ग्रंथ है। सन् 1975 में भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् नई दिल्ली ने उनको दो वर्ष की 'पोस्ट डाक्टरल' सीनियर रिसर्चशिप प्रदान की।

सन् 1979 में उनको भारत और नेपाल के सांस्कृतिक संस्थानों के अध्ययन के लिए 'भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद्, नई दिल्ली द्वारा काठमाण्डू भेजा गया। उनकी 'बिब्लोग्राफी ऑफ इंडियन आर्ट' तथा 'बिब्लोग्राफी ऑफ नेपालीज़ आर्ट' अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के संदर्भ ग्रन्थ हैं। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कला के प्राण : बुद्ध' मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद् द्वारा प्रकाशित हुआ और एक विशेष समारोह में महामहिम राष्ट्रपति **डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद** को समर्पित हुआ। उनका 'भारतीय कलाविद्' सन् 1993 में प्रकाशित हुआ जिसमें कला-इतिहासकारों को श्रद्धांजलि दी गई है।

विदेश मंत्रालय ने जगदीश चतुर्वेदी की 'हिन्दी में ललित कला साहित्य (संदर्भ-ग्रंथ) तथा 'साँची के स्तूप' की प्रतियाँ विश्व भर के भारतीय राजदूतावासों में भिजवाई हैं। वे इसे अपनी महती उपलब्धि मानते हैं।